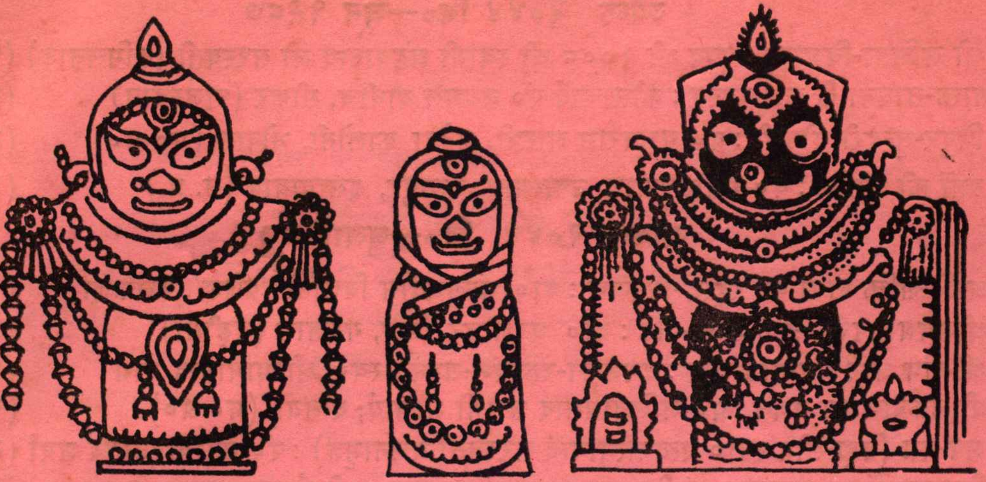

'कौल-कल्पतरु'

चण्डी

वर्ष ४६ : चैत्र-आषाढ़ २०४४ वि०—अप्रैल-जुलाई ८७ : संख्या १-४

इस संयुक्त अंक में

[इस वर्ष प्रति मास अङ्क निकालने की योजना थी और प्रति अङ्क के प्रारम्भ में 'पूजा-रहस्य' के १६ पृष्ठ देने थे । इसी के अनुसार मासिक अङ्कों की पृष्ठ-संख्या १७ के क्रम से छापी गई किन्तु चार अङ्कों को संयुक्त करना पड़ा और 'पूजा-रहस्य' के पृष्ठों को एक साथ रखा गया । अतः नीचे कोष्ठकों में दी पृष्ठ-संख्या के स्थान पर बाहर छपी पृष्ठ-संख्या को शुद्ध मानकर कृपया चारों अङ्कों की पृष्ठ-संख्या सुधार लें । इससे ४ अङ्कों का ६४-पृष्ठीय साहित्य स्पष्ट हो जायगा । विशिष्ट-साहित्य "पूजा-रहस्य" की पृष्ठ-संख्या सामान्य लेख-साहित्य से स्वतन्त्र है ।——सं०]

चैत्र २०४४ वि०—अप्रैल १९८७

१ श्री ललिता-विजयम् : पूज्य श्रीस्वामी अद्वयानन्द जी सरस्वती, त्रिची (तमिलनाडु) (१७) १
२ पञ्च-दशी महा-विद्या : पं० गङ्गाराम शास्त्री, अरेरा कालोनी, भोपाल (म० प्र०) (२५) ९
३ जिज्ञासाओं का समाधान : 'श्री श्रीविद्या-नित्यार्चन' से सम्बन्धित प्रश्न (३२) १६

वैशाख २०४४ वि०—मई १९८७

४ दक्षिण भारत में दुर्गा-पूजा : श्रीकृष्ण पिच्चुमणि अयङ्गार, श्री रङ्गम् (तमिलनाडु) १७
५ 'जन्म-पत्री' का उपयोग : पं० सतीशकुमार उपाध्याय, दलापुर, इलाहाबाद (उ० प्र०) २०
६ प्रणव-माहात्म्य एवं नाद-साधन : श्री शिवचरण लाल चौरसिया, नागपुर (महाराष्ट्र) २२
७ पूज्य-पाद गुरु-वर्य श्री ज्ञानानन्दनाथ जी महाराज : पं० बेनीमाधव त्रिपाठी, बम्बई २७
८ श्रीगुरु : पं० महावीरप्रसाद शर्मा, हावड़ा (बङ्ग-प्रदेश) ३०
९ चतुःश्लोकी कालिका स्तवेन्द्रम् : पं० कृष्णानन्द वैद्य, प्रयाग (उ० प्र०) ३१

ज्येष्ठ २०४४ वि०—जून १९८७

१० श्री ललिता-विजयम् : पूज्य श्री १००८ श्री स्वामी अद्वयानन्द जी सरस्वती (तमिलनाडु) (१७) ३३
११ शाक्त-साधना के कुछ रहस्य : कौलाचार्य पं० नथमल दाधीच, सीकर (राजस्थान) (२२) ३८
१२ त्रिपुर-सुन्दरी षोडशी : पं० गङ्गाराम शास्त्री, अरेरा कालोनी, भोपाल (म० प्र०) (२५) ४१
१३ ग्रहों की शान्ति : पं० सतीशकुमार उपाध्याय, दलापुर, इलाहाबाद (उ. प्र.) (३१) ४७

आषाढ़ २०४४ वि०—जुलाई ८७

१४ आदि-शक्ति राधा का रहस्य-निरूपण : डा० वल्लभदास बिन्नानी 'व्रजेश', कलकत्ता (१७) ४९
१५ श्रीजगन्नाथपुरी—एक शक्ति-पीठ : डा० धरणीधर मिश्र, गन्जाम (उड़ीसा) (२०) ५२
१६ श्री-क्षेत्र और जगन्नाथ-तत्व : दरभङ्गा-राजवंश-सम्भूत स्व० श्रीश्यामानन्द नाथ (२३) ५५
१७ श्री चक्रराज का वर्णन : पं० ललिताप्रसाद शास्त्री आचार्य, दतिया (म० प्र०) (२५) ५७
१८ जप-यज्ञ (ब्रह्म-लीन स्वा० प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती वचनामृत) : पं० महावीरप्रसाद शर्मा (२८) ६०
१९ जिज्ञासाओं का समाधान—'श्रीवगला-कल्पतरु' का मन्त्र : श्री भैरवानन्दनाथ, सागर (३०) ६२
२० निजी अनुभूति पर आधारित सत्य-कथा—विन्दु : श्री 'अश्रुत', प्रयाग (उ. प्र.) (३१) ६३
२१ डा० कैलासनाथ काटजू की जन्म-शताब्दी (३२) ६४

पूजा-रहस्य (ज्ञान-खण्ड)

१ 'पूजा' का महत्व १
२ पूजन-क्रियाओं का मनो-वैज्ञानिक पक्ष : ब्रह्म-लीन स्वामी शाश्वतानन्द सरस्वती ५
३ मानव-जीवन का ध्येय—'भाव-शुद्धि' (सङ्कलित) १४
४ हिन्दुओं की पूजा का आधार—'तत्व-ज्ञान' : 'राज-गुरु' स्व० पं० योगीन्द्रकृष्ण दौर्गादत्ति शास्त्री १५
५ मनुष्य की उन्नति और 'पूजा' (सङ्कलित) २६
६ पूजा-संकेत : 'दरभङ्गा-राजवंश-सम्भूत' स्व० श्यामानन्द नाथ २७
७ 'पूजा' का प्रभाव (सङ्कलित) २९
८ हिन्दुओं के एक पूजन-क्रम का संक्षिप्त वर्णन : कौल-कल्पतरु' स्व० पं० देवीदत्त शुक्ल ३०
९ आदि-गुरु शङ्कराचार्य कृत 'पूजन की रूप-रेखा' ३३
१० हिन्दुओं की पूजा की प्राप्ति—'सिद्धि-राज्य' : कापालिक उद्बोधनानन्द जी ३४
११ भावना-यज्ञ (सङ्कलित) ३६
१२ हिन्दुओं की पूजा का विवरण ३७-५६

प्रातः-कृत्य—१ शुभ-विचारों एवं पवित्र भावनाओं की स्थापना ३७
२ 'गुरु' का ध्यान, और उनकी मानसिक-पूजा ३९
३ कुण्डलिनी का ध्यान, जागरण और 'अजपा'-जप का समर्पण ४३
४ इष्ट-वन्दनादि और दिवा-कृत्य हेतु आज्ञा-प्राप्ति ४६

दिवा-कृत्य— ५ स्नान ४७
६ सन्ध्या-वन्दन ४८

नित्यार्चन— ७ स्थान-शुद्धि एवं देह-शुद्धि

श्री ललिता-विजयम्

पूज्य श्री १००८ श्री स्वामी अद्वयानन्द जी सरस्वती, श्री छायापीठं, त्रिची (तमिलनाडु)

अगस्त्य और उनकी पत्नी लोपामुद्रा

अगस्त्य एक विशिष्ट ऋषि हो गए हैं। यज्ञ-शाला में रखे हुये एक कुम्भ (कलश) से उनका जन्म हुआ था, जिससे वे 'कुम्भ मुनि' कहे जाते थे। आकार में यद्यपि वे छोटे थे किन्तु तपस्या की अपनी शक्तियों से वे महान् थे। वृत्राण नामक एक असुर समुद्र में छिपा रहता था। इन्द्र उसे खोज नहीं पाए। तो उन्होंने अगस्त्य ऋषि से सहायता माँगी। उन्होंने अपनी शक्तियों से सारे समुद्र को सुखाकर एक काले चने के बराबर बना दिया और उसे निगल गए। एक बार विन्ध्य पर्वत ने हिमालय को प्रतिद्वन्द्विता में ऊँचा होना प्रारम्भ किया और सूर्य तथा चन्द्रमा के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। देवता डर गए और सहायता के लिए अगस्त्य के पास पहुँचे। अगस्त्य ने उसे पृथ्वी के नीचे ढकेल दिया और पृथ्वी के समतल बना दिया। वातापी नामक एक असुर भोजन के रूप में अगस्त्य के पेट में पहुँच गया, वहाँ जीवित हो उठा और अगस्त्य के पेट को फाड़कर उसने बाहर निकलना चाहा, किन्तु अगस्त्य ने उसे पचा कर अपने पेट में ही समाहित कर लिया। कैलास में शिव-विवाह के समय पृथ्वी-वासी और सभी देवों ने वहाँ भीड़ लगा ली, जिससे पृथ्वी का उत्तरी भाग नीचे को झुक गया और दक्षिणी भाग ऊपर को उठ गया। भगवान् शिव की आज्ञा से अगस्त्य अकेले ही दक्षिण के पोथिया पर्वत पर गए और पृथ्वी को पूर्व-स्थिति में पुनः ले आये। राजा नहुष ने एक सौ अश्वमेध यज्ञ किए, इन्द्र का पद प्राप्त किया और पालकी पर चढ़कर इन्द्राणी को पाना चाहा। उसने अगस्त्य के प्रति निरादर का व्यवहार किया, जिससे उन्होंने उसे अजगर हो जाने का शाप दे दिया। इन सब चमत्कारों के करने की शक्ति उन्हें अपनी पत्नी **लोपामुद्रा** से मिली थी।

लोपामुद्रा को अपने बचपन में ही पराम्बा के श्रीविद्या-मन्त्र की दीक्षा मिल गई थी। श्रीललिताम्बिका के प्रति अपनी निष्ठा के फल-स्वरूप उन्होंने सभी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं। इसी से भगवान् हयग्रीव अपनी दैनिक ललिताम्बिका-पूजा के अन्त में लोपामुद्रा की सुमङ्गली-पूजा किया करते थे। यह बात देवताओं से अगस्त्य को ज्ञात हुई। उन्होंने लोपामुद्रा से पूछा कि 'तुम तो मुझसे कभी अलग नहीं होतीं और मेरे साथ एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करती रहती हो। किस प्रकार प्रति-दिन काँचीपुरम् में हयग्रीव द्वारा की जानेवाली सुवासिनी-पूजा में उपस्थित रहती हो?' लोपामुद्रा ने उन्हें श्रीविद्या-मन्त्र में अपनी दीक्षा और श्रीयन्त्र की अपनी उपासना की बात बताई, जिसके फल-स्वरूप पराम्बा की कृपा से उन्हें सिद्धियाँ प्राप्त थीं। इस रहस्य की बात को जानकर अगस्त्य ने श्रीविद्या-उपासना करने की अपनी इच्छा प्रकट की। लोपामुद्रा इससे प्रसन्न हुईं और कहा कि—'संसार के लोगों के हित के लिए और लाखों भक्तों को पराम्बा की महिमा से परिचित कराने के उद्देश्य से तथा श्रीविद्या के मन्त्र में उन्हें दीक्षित करने के लिए ललिताम्बिका ने हयग्रीव को काञ्चीपुरम् में प्रकट होने का निर्देश दिया है। हयग्रीव ने, जो बैकुण्ठ के नारायण हैं, सीधे अम्बिका से दीक्षा प्राप्त की है। इसलिए आप कृपया हयग्रीव के पास जायें और सीधे उन्हीं से दीक्षित हों।'

तदनुसार अगस्त्य काञ्ची की महती नगरी में पहुँचे। हयग्रीव देवताओं और अन्य भक्तों के बीच प्रेमानन्द में मग्न थे। अगस्त्य ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और उठकर उनके समक्ष खड़े हुये किन्तु हयग्रीव ने उन्हें मात्र एक दर्शनार्थी भक्त समझा, जो देवी-पूजा को देखने और उनके द्वारा कही जानेवाली पराम्बा-महिमा को सुनने आया है। अतः उन्होंने अपने हाथ से उन्हें बैठने का संकेत किया और इससे अधिक ध्यान उनके प्रति नहीं दिया। अगस्त्य न उनके निकट पहुँच पाए और न ही उनसे व्यक्तिगत रूप से बात कर पाए। अन्य भक्तों के साथ बैठने और हयग्रीव द्वारा वर्णित देवी-माहात्म्य को सुनने तथा उनके द्वारा की जानेवाली श्रीचक्र-पूजा में तन्मय होने में ही उन्होंने सन्तोष माना।

श्रीचक्र-पूजा के अन्त में हयग्रीव ने एक आसन दिया और अचानक ही मानों शून्य से आकर उस आसन पर लोपामुद्रा बैठी हुई दिखाई दीं। हयग्रीव ने लोपामुद्रा का साक्षात् देवी-स्वरूप में स्वागत किया, देवी के समान उनकी पूजा की और दूध से भरा एक पात्र उन्हें भेंट किया। लोपामुद्रा ने पात्र को ले लिया, एक घूँट उसमें से पिया, फिर हयग्रीव को पात्र लौटाकर तुरन्त ही अन्तर्धान हो गयीं। हयग्रीव ने बचे हुये दूध में से कुछ स्वयं लिया और पूजा के बाद भक्तों को प्रसाद बाँटा। प्रसाद पाकर भक्त लोग अपने-अपने घर चले गए। अगस्त्य भी अपनी कुटिया को वापस लौटे, जहाँ उन्होंने यह देखकर आश्चर्य किया कि लोपामुद्रा वहाँ बैठी किसी स्त्री से पराम्बा की महिमा की चर्चा कर रही हैं।

अगस्त्य प्रतिदिन हयग्रीव के पास उनसे दीक्षा लेने के उद्देश्य से जाते रहे। एक दिन लोपामुद्रा ने अगस्त्य से पूछा कि 'आप हयग्रीव से व्यक्तिगत रूप से मिले या नहीं और उनसे कुछ उपदेश मिला या नहीं ?' अगस्त्य ने बताया कि 'मैं हयग्रीव के निकट नहीं पहुँच सका हूँ। हाँ, उनकी पूजा के समय तुम्हारे प्रकट होने और अन्तर्ध्यान होने का चमत्कार अवश्य देखा है।' लोपामुद्रा ने कहा—'स्वामिन्, जब हयग्रीव आपकी ओर देखें, तो आप उन्हें बतायें कि मैंने आपको उनके पास भेजा है। इससे आपके उद्देश्य की पूर्ति हो जायेगी।' अगस्त्य ने अगले दिन ऐसा ही किया।

अगस्त्य की बात सुनकर हयग्रीव ने उन्हें अपने निकट बुलाया और उनसे पूछा—'आप कौन हैं ? किसलिए आप आये हैं ?'

अगस्त्य ने उत्तर दिया—'मैं अगस्त्य मुनि हूँ, लोपामुद्रा का पति। मैं आपसे दीक्षा लेने आया हूँ।'

हयग्रीव ने उमङ्गपूर्वक कहा—'मैं आपको प्रतिदिन देखता था किन्तु मैं आपको अन्य जैसा ही समझता था और आप पर ध्यान नहीं दिया। यदि आपने पहले ही अपना परिचय दिया होता, तो जो कुछ आप चाहते थे, मुझसे पूर्व ही सीख लिए होते। अच्छा, अब बताइये कि आप क्या चाहते हैं ?'

अगस्त्य द्वारा मोक्ष और आनन्द-प्राप्ति की प्रार्थना

अगस्त्य बड़े प्रसन्न हुये, उनके चरणों पर दण्डवत् प्रणाम किया और सविनय कहा—'भगवन्, मैंने सभी पवित्र पीठों की यात्रा की है और पुण्य तीर्थों में स्नान किया है। मैंने देखा है कि सर्वत्र लोग अज्ञान के अन्धकार से ढंके हुए हैं और अपना सारा समय खाने-पीने तथा भोग करने में बिताते हैं। मैं समझता हूँ कि यह सब कलियुग का दुष्प्रभाव है। जनार्दन, मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, मुझे वह उपाय बताइये, जिससे लोग संसार-सागर को पार कर सकें, मोक्ष पाएँ और आनन्द प्राप्त करें। सर्वोत्तम मार्ग क्या है ? मैं ऐसी उपासना करना चाहता हूँ, जिससे सभी सिद्धियों और मुक्तियों की प्राप्ति हो। प्रार्थना है कि कृपया मुझे इन विषयों में प्रबुद्ध करें।'

महा-परा-शक्ति जगन्माता श्री ललिताम्बिका की पूजा

हयग्रीव बोले--'ओ लोपामुद्रा-पति मुनि अगस्त्य ! ये सब बातें मुझे स्वयं देवो ने बताई हैं। यही बातें मैंने ब्रह्मदेव और दुर्वासा को सिखाई हैं। तुम्हारी पत्नी को दुर्वासा ने इनको शिक्षा दी है क्योंकि उन्होंने उनकी सेवा की थी। अब तुम्हें वह सब बताऊँगा। कृपया सुनें। सर्वोत्तम मार्ग है महा-परा-शक्ति जगन्माता श्री ललिताम्बिका की पूजा। वही एक-मात्र हैं, जो कृपा-पूर्वक सबको इस संसार में जो कुछ सर्व-श्रेष्ठ है, दे सकती हैं और परलोक में समस्त ज्ञान तथा मुक्ति, मात्र भक्ति से मिल जाती है, भले ही शास्त्रों का ज्ञान न हो और आगमों के अनुसार न चलता हो। परम शिव तक ने देवी-पूजा के द्वारा सभी सिद्धियाँ पाई हैं और वे अर्द्ध-नारीश्वर बने हैं। ब्रह्मा-सहित सभी ने देवी-ध्यान के द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। अज्ञानी और ज्ञानी, पापी और पुण्यात्मा, बच्चे और बूढ़े, पुरुष और स्त्रियाँ—सभी सरलता से यह पूजा कर सकते हैं और इस मार्ग द्वारा मोक्ष पा सकते हैं।

'यही सर्वोत्तम मार्ग है। अज्ञानी लोग ज्ञान-प्राप्ति के लिए, ज्ञानी लोग उच्चतर भूमिकाओं तक पहुँचने के लिए और पापी लोग अपने पापों से छूटने के लिए इस अम्बिका-पूजा को कर सकते हैं। यदि ऋषि और छन्द के न्यास तथा दिग्-बन्धन आदि के साथ विधिपूर्वक पूजा की जाती है, तो कुछ भी प्राप्त करना असम्भव नहीं है। जो देवी के प्रति मन, प्राण और इच्छाओं को पूर्ण रूप से समर्पित कर देता है और इस दृढ़ विश्वास के साथ अपने कर्म करता जाता है कि वह देवी से भिन्न नहीं है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

'ओ ऋषि ! यह बात बहुत ही गोपनीय है। मैंने इसे आपको इसलिए बताया है क्योंकि आप लोपामुद्रा के पति हैं, आपने महती तपस्या की है; आप सबके सुख के लिए इच्छुक हैं और देवी ने स्वयं इसकी शिक्षा आपको देने का आदेश किया है। मेरी कामना है कि देवता और अन्य लोग आपसे इसे सीखें और सिद्धियाँ प्राप्त करें।'

अगस्त्य ने पुनः हयग्रीव को दण्डवत् प्रणाम किया और प्रार्थना करते हुए पूछा कि 'आप द्वारा उल्लिखित ये महा-परा-शक्ति ललिता कौन हैं ? उनका स्वरूप कैसा है? उनकी लीलाएँ क्या हैं ?'

हयग्रीव ने कहा–'ओ ऋषि ! आज देर हो गई है। कल से मैं आपको क्रमशः बताऊँगा। आप प्रति-दिन नियम से आकर सुन सकते हैं।'

इस प्रकार अगस्त्य का समाधान कर हयग्रीव अम्बिका की पूजा में तत्पर हुये। अगस्त्य ने पूजा देखी, प्रसाद लिया, अपनी कुटिया को लौटे और जो कुछ बीता था, वह सब लोपामुद्रा को बताया। अगले दिन वे हयग्रीव के पास पहुँचे, उनके समक्ष नत-मस्तक हुये और अपना प्रश्न पूछा।

महा-परा-शक्ति ललिता का स्वरूप

हयग्रीव ने कहा–'ओ ऋषि, लोपामुद्रा के पति ! इन सभी लोकों का स्रष्टा सभी देवों और मेरे पुत्र ब्रह्मा से महत्तर है। मैं महा-विष्णु और ब्रह्मा का पिता हूँ, विश्व की स्थिति बनाए रखने का कार्य करता हूँ। संहार करनेवाले रुद्र हैं। जीवों को भोगों का अनुभव हो सके और वे मुक्ति के उच्चतर सोपानों पर पहुँच सकें, इसके लिए महेश्वर पूर्व-जन्म की गर्भ-जन्य पीड़ाओं और बीते हुए सभी दुःखों पर पर्दा डाल देते हैं। ये महेश्वर हम तीनों–ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—से महत्तर हैं। महेश्वर की माया के आवरण से कभी-कभी हम भी अहङ्कार में पड़ जाते हैं और देवी-भक्ति को भूल जाते हैं। जो भूलते हैं, वे अधोगति को प्राप्त करते हैं और जो देवी की स्तुति करते हैं, वे पुरस्कृत होते हैं। यही कारण है कि शिव और विष्णु-पुराणों में हमारी उन्नति और अवनति का वर्णन मिलता है।

'हम चार—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और महेश्वर—अपने-अपने स्वरूपवाले हैं।

'कृपा करनेवाले ईश्वर अर्थात् सदा-शिव स्वरूपवाले हैं भी और नहीं भी हैं। दूसरे शब्दों में वे 'रूप' और 'अरूप' दोनों हैं। वे महेश्वर से महत्तर हैं। महेश्वर से महत्तर विन्दु - शक्ति है और उसका अधिष्ठातृ दैवत है नाद-शिव। उसे महा-शम्भु भी कहते हैं। नाद-शम्भु और विन्दु-शक्ति रूप-रहित हैं। मात्र ध्वनि ही उनका रूप है। नाद-शक्ति से महत्तर हैं परम शिव और परमा शिवा। ये ही कामेश्वर और कामेश्वरी के नाम से विख्यात हैं।

'ब्रह्म का स्थिति (सत्) स्वरूप कामेश्वर या परम शिव कहलाता है और ज्ञानानन्द (चिदानन्द) स्वरूप कामेश्वरी या परमा शिवा के नाम से जाना जाता है। कामेश्वर और कामेश्वरी का सम्मिलित स्वरूप ही महा-परा-शक्ति श्रीललिताम्बिका हैं। कामेश्वर, नाद-शम्भु, सदा - शिव, महेश्वर और रुद्र—ये पाँचों 'शिव' नाम वाले हैं। जब ज्ञानी-जन ब्रह्म-निष्ठा में लीन होते हैं, तब उनका मन एकीभूत ब्रह्म (अखण्ड ब्रह्मानन्द) में मग्न हो जाता है। यह ब्रह्माकार-वृत्ति और कामेश्वरी भी ललिता ही हैं।

'इस प्रकार परम शिव और हम जैसों द्वारा उपासिता ललिताम्बिका सच्चिदानन्द ब्रह्म ललिताम्बिका हैं। ये ललिताम्बिका महा-शम्भु के महा-योग से प्रादुर्भूत होकर श्रीचक्र-राज के रथ पर आरूढ़ हुईं और अपने चार हाथों में इक्षु-दण्ड (ऊपरी बाँयाँ हाथ), पञ्च-पुष्पों के वाण (ऊपरी दायाँ हाथ), रस्सी का पाश (बाँयाँ निचला हाथ) और अंकुश (दायाँ निचला हाथ) धारण किए निरन्तर षोडश-वर्षीय अवर्ण्या सुन्दरी के स्वरूप में सुशोभित हुईं। जब ललिताम्बिका अपना स्वरूप प्रकट करती हैं, तब उनके सिंहासन को चार पायों के रूप में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और महेश्वर वहन करते हैं तथा सदा-शिव उनके विराजने के लिए पर्यङ्क-रूप में परिणत हो जाते हैं। छतीस तत्व ही उनके सिंहासन तक पहुँचने के ३६ सोपान हैं।'

राज-राजेश्वरी श्रीललिताम्बिका के सिंहासन तक के ३६ सोपान

अगस्त्य बोले—'भगवन्! ये छत्तीस तत्व क्या हैं, जो ललिताम्बिका के सिंहासन तक के ३६ सोपान बनते हैं?'

हयग्रीव—'ऋषि-वर! आप यह सब अच्छी तरह जानते हैं। फिर भी आप इन बातों को समझाने के लिए मुझसे इसलिए पूछ रहे हैं, जिससे विश्व के लोग इन्हें जानकर मोक्ष प्राप्त कर सकें। महान् पुरुषों की यही विशेषता है। अपनी इसी परोपकारी प्रवृत्ति के कारण कि सभी लोग आनन्द को प्राप्त करें, आप महान् ऋषि हुए हैं और लोपामुद्रा जैसी अत्युच्च-विकसिता पत्नी आपको मिली हैं। आपका कल्याण हो।

'मैं संक्षेप में उन ३६ तत्वों की व्याख्या करूँगा, जो ३६ सोपान बनते हैं। राज - राजेश्वरी श्रीललिताम्बिका के सिंहासन तक पहुँचनेवाले प्रथम, सबसे नीचे के सोपान से लेकर सबसे ऊपर के ३६वें सोपान तक का वर्णन सुनिए।

पहले पाँच सोपान—पञ्च-महा-भूत

'आत्म-तत्व २४ हैं। पहला सोपान है पृथ्वी-तत्व। वे सभी, जो कठोर हैं और गन्धवाले हैं, पृथ्वी है। इसे मिट्टी भी कहते हैं। अप्-तत्व दूसरा सोपान है। जो शीतल और दयनीय हैं, वे अप् हैं। इसे जल भी कहते हैं। तेजस्-तत्व तीसरा सोपान है। वे सभी, जो ऊष्मा और चमकवाले हैं, तेजस् हैं।

इसे अग्नि भी कहते हैं। वायु-तत्व चौथा सोपान है। रूप-हीन, स्पर्श द्वारा ज्ञेय और निरन्तर गति-शील वायु है। इसे हवा भी कहते हैं। आकाश-तत्व पाँचवाँ सोपान है। इसके न रूप है, न स्पर्श द्वारा इसका बोध होता है। यह सभी प्रकार की ध्वनियों का स्रोत है और सभी वस्तुओं का यह आधार है। इसे नभ भी कहते हैं। ये पाँच तत्व 'पञ्च-महा-भूत' (पाँच महान् तत्व) स्थूल-भूत (बोध-गम्य तत्व) और पञ्चीकृत भूत (विशेष प्रक्रिया द्वारा मिश्रित तत्व) के नाम से प्रसिद्ध हैं।

'उक्त पाँच तत्वों से ही पृथ्वी से आगे तक के सभी बोध-गम्य पदार्थों का निर्माण होता है। खाद्य-रूप में प्रयोग किए जानेवाले सभी पदार्थों में ये पाँचों तत्व मिश्रित रहते हैं। अतः सभी भौतिक शरीर इन्हीं पाँच तत्वों से बने हुए हैं।

दूसरे पाँच सोपान—पञ्च-तन्मात्राएँ

'गन्ध-तन्मात्रा (सूँघने का गुण) छठा सोपान है। यह गुण सूक्ष्म है। नाक द्वारा बोध-गम्य न होने से इसे सूक्ष्म पृथ्वी कहते हैं। रस-तन्मात्रा (स्वाद का गुण) सातवाँ सोपान है। यह इतना सूक्ष्म है कि जीभ इसका अनुभव नहीं कर सकती। अतः इसे सूक्ष्म अप् कहते हैं। रूप - तन्मात्रा आठवाँ सोपान है। यह तेज का गुण है। अति सूक्ष्म होने के कारण आँखें इसे देख नहीं सकतीं। अतः इसे सूक्ष्म तेजस् कहते हैं। स्पर्श-तन्मात्रा नवाँ सोपान है। यह स्पर्श की अनुभूति है। अत्यन्त सूक्ष्म होने से इसे छूकर अनुभव नहीं किया जा सकता। अतः इसे सूक्ष्म वायु कहते हैं। शब्द - तन्मात्रा दसवाँ सोपान है। यह ध्वनि का गुण है। सूक्ष्मता के कारण इसे कानों से नहीं सुना जा सकता। अतः इसे सूक्ष्म आकाश कहते हैं।

'ये पाँच गुण—गन्ध, स्वाद, रूप, स्पर्श और श्रवण—तन्मात्रा या सूक्ष्म तत्व या अमिश्रित तत्व या तीन गुणों सहित तत्व के नाम से जाने जाते हैं। इन पाँच सूक्ष्म तत्वों में तीन गुण—सत्व, रजस् और तमस् निहित हैं।

'तत्वों का अहं उन्हें दो शक्तियों में विभाजित कर देता है—१ विक्षेप (विकसित करने की शक्ति), २ आवरण (संकुचित करने–ढँकने की शक्ति)। इसी आवरण-शक्ति के कारण जीव अपने और पराम्बा के वास्तविक स्वरूप को जानने में असफल रहते हैं। ज्ञान के प्रकाश से इस आवरण-शक्ति का, जिसे दूसरे शब्दों में 'आणव मल' कहते हैं, निवारण होता है और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

'विक्षेप (विकास करने की शक्ति) से शब्द-तन्मात्रा (गुण—शब्द) का उद्भव होता है; उससे स्पर्श-तन्मात्रा (गुण—स्पर्श) का, उससे रूप-तन्मात्रा (गुण—दर्शन) का, उससे रस-तन्मात्रा (गुण—स्वाद) का और उससे गन्ध-तन्मात्रा (गुण-घ्राण) का उद्भव होता है। इन तन्मात्राओं से, जो सूक्ष्म तत्व के रूप में ज्ञात हैं, स्थूल भूतों (दृश्यमान तत्व) की उत्पत्ति हुई। सूक्ष्म तत्वों का तमोगुण (आलस्य) स्वरूप 'पञ्चीकरण' नामक क्रिया में पड़कर उन्हें पञ्चीकृत भूतों में परिणत करता है। मैं अब 'पञ्चीकरण' को समझाऊँगा कि यह कैसे होता है, सुनो।

'गन्ध तन्मात्रा (घ्राण गुण) के तमोगुण (आलस्य) स्वरूप का आधा भाग अन्य चार तन्मात्राओं (गुणों) में से प्रत्येक के तमोगुण-स्वरूप के आठवें भाग से मिश्रित होकर स्थूल पृथ्वी-तत्व (दृश्यमान पृथ्वी या मिट्टी) को बनाता है। रस-तन्मात्रा के तमोगुण-स्वरूप का आधा भाग अन्य चार तन्मात्राओं में से प्रत्येक के तमोगुण-स्वरूप के आठवें भाग से मिश्रित होकर स्थूल अप् (दृश्यमान जल) को बनाता है। रूप (प्रकाश) के तमोगुण-स्वरूप का आधा भाग अन्य चार तन्मात्राओं में से प्रत्येक के

तमोगुण-स्वरूप के आठवें भाग से मिलकर स्थूल तेजस् (दृश्यमान प्रकाश) को बनाता है। स्पर्श-तन्मात्रा के तमोगुण-स्वरूप का आधा भाग अन्य चार तन्मात्राओं में से प्रत्येक के तमोगुण-स्वरूप के आठवें भाग से मिलकर स्थूल वायु (दृश्यमान हवा) को बनाता है। शब्द-तन्मात्रा के तमोगुण-स्वरूप का आधा भाग अन्य चार तन्मात्राओं में से प्रत्येक के तमोगुण-स्वरूप के आठवें भाग से मिलकर स्थूल आकाश को बनाता है। ये पाँच तत्व और पाँच गुण—कुल दस तत्व बाह्य इन्द्रियाँ कहलाती हैं।

तीसरे पाँच सोपान—पंच कर्मेन्द्रिय

'उपस्थ इन्द्रिय (सृजन की इन्द्रिय) ११वाँ सोपान है। यह गन्ध-तन्मात्रा या सूक्ष्म पृथ्वी के रजोगुण (क्रिया) स्वरूप से उत्पन्न होता है। इसी से यह पृथ्वी के समान कड़े रूप में उत्थित होता है और सुख देता है। पायु इन्द्रिय (बाहर निकालनेवाली) १२वाँ सोपान है। यह रस-तन्मात्रा या सूक्ष्म अप् के रजोगुण-स्वरूप से उत्पन्न होता है। इसी से यह जल के समान लचीला होता है और मल-मूत्रादि के निकालने का कार्य करता है। पाणि इन्द्रिय (हाथ) तेरहवाँ सोपान है। यह रूप-तन्मात्रा या सूक्ष्म तेजस् के रजोगुण-स्वरूप से उत्पन्न होता है। यह ऊष्मा के रूप में हाथों में व्याप्त रहता है और पकड़ने आदि के कार्य करता है। पाद इन्द्रिय (पैर) चौदहवाँ सोपान है। यह स्पर्श-तन्मात्रा या सूक्ष्म वायु के रजोगुण-स्वरूप से उत्पन्न होता है। यह पैरों में व्याप्त रहता है और गति करता है। वाक् इन्द्रिय (बोलने की इन्द्रिय) १५वाँ सोपान है। यह शब्द-तन्मात्रा या सूक्ष्म आकाश (निर्मल आकाश) के रजोगुण-स्वरूप से उत्पन्न होता है। अतः इसका स्थान मुख है और वाणी द्वारा ध्वनि उत्पन्न करता है।

'उपस्थ, पायु, पाणि, पाद और वाक्—ये कर्मेन्द्रियाँ कहलाते हैं क्योंकि क्रिया के साधन हैं। ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ वैखरी अहङ्कार से उद्भूत बताई गई हैं।

'पाँच तन्मात्राओं के रजोगुण-स्वरूप से अंश लेकर परस्पर मिश्रित किए जाते हैं, जिससे प्राण-शक्ति बनती है। इसी प्राण-शक्ति की सहायता से कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कर्म करती हैं। यही प्राण-शक्ति श्वास द्वारा जीवित प्राणियों के मुख्य प्राण को सक्रिय करती है, जिससे इसका नाम प्राण-वायु पड़ा है। इस प्रकार कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का नामकरण उन स्थानों के नामानुरूप हुआ है, जहाँ वे विद्यमान हैं।

'एक ही प्राण-शक्ति, अपने विविध कार्यों के अनुसार विभिन्न नामोंवाली होती है। यथा—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कर्म क्रकर, देवदत्त और धनञ्जय।

चौथे पाँच सोपान—पंच ज्ञानेन्द्रिय

'घ्राणेन्द्रिय (सूंघनेवाला अङ्ग) १६वाँ सोपान है। यह गन्ध - तन्मात्रा के सत्व-गुण - स्वरूप (प्रकाश या आनन्द) से उत्पन्न होता है। अतः यह नाक में है और गन्ध का अनुभव करता है। जिह्वा इन्द्रिय (स्वाद लेनेवाला अङ्ग) १७वाँ सोपान है। यह रस-तन्मात्रा के सत्व-गुण-स्वरूप से उत्पन्न होता है। अतः यह जीभ में है और स्वाद का अनुभव करता है। चक्षु इन्द्रिय (देखनेवाला अङ्ग) १८वाँ सोपान है। यह रूप-तन्मात्रा के सत्व-गुण-स्वरूप से उत्पन्न होता है। अतः यह आँख में कार्य करता है और रूपों के आकारों का अनुभव करता है। त्वक् इन्द्रिय १९वाँ सोपान है। यह स्पर्श-तन्मात्रा के सत्व-गुण-स्वरूप से उत्पन्न होता है। अतः यह त्वचा (खाल) में है और छूने का अनुभव करता है। श्रोत्र

इन्द्रिय २०वाँ सोपान है। यह शब्द-तन्मात्रा के सत्व-गुण-स्वरूप से उत्पन्न होता है। अतः यह कान में है और सुनने का अनुभव करता है।

'ये पाँच तत्व घ्राण, स्वाद, रूप, स्पर्श और स्वाद को जानने के साधन हैं। अतः इन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ (ज्ञान या जाननेवाली इन्द्रियाँ) कहा जाता है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ––ये दस इन्द्रियाँ बाह्य अङ्ग कही गयी हैं।

२१ वाँ सोपान—'मन'

'मनस् तत्व (मन) २१वाँ सोपान है। यह पाँच तन्मात्राओं के सत्व-गुण (प्रकाश या ज्ञान) स्वरूप के अंशों का मिश्रण है। इसे अन्तःकरण (भीतरी अङ्ग) भी कहा जाता है। इस अन्तःकरण में सूक्ष्म पृथ्वी के होने से यह पृथ्वी के समान कड़ा होकर खड़ा होता है और शरीर को 'मैं' कहकर आलिङ्गित करता है। इस स्थिति में इसका नाम है 'अहङ्कार'। अन्तःकरण में सूक्ष्म जल के होने से, जैसे नदी की धारा पेड़ों और पौदों को बहा ले जाती है, वैसे ही यह विविध अनुभूतियों को आकृष्ट करता है और चिन्तन करता है। अन्तःकरण की यह चिन्तन की स्थिति 'चित्त' कहलाती है। अन्तःकरण में सूक्ष्म तेजस् के होने से, यह दीपक के समान पदार्थों को प्रकाशित करता है और निर्णय लेता है। यह निर्णायक स्थिति 'बुद्धि' कहलाती है। अन्तःकरण में विद्यमान सूक्ष्म वायु इसे हवा के समान सतत गतिशील रखती है। यह स्थिति 'मन' कहलाती है। सूक्ष्म आकाश के रहने से अन्तःकरण सभी पदार्थों को स्थान देता है और उन्हें स्मृति में रखता है। इस स्थिति में यह 'हृदय' कहलाता है।

'इस प्रकार अहङ्कार, चित्त, बुद्धि, मन और हृदय से मिलकर बना हुआ यह अन्तःकरण मनस् तत्व कहा गया है। यह भी कहा जाता है कि यह मनस् तत्व और ज्ञानेन्द्रियाँ तैजस् अहङ्कार से उत्पन्न होती हैं।

२२ वाँ सोपान—'अहङ्कार'

'अहङ्कार तत्व २२वाँ सोपान है। इसे एकीभूत या अविभाजित अहङ्कार कहते हैं। मनस् तत्व अन्तःकरण का पृथ्वी-स्वरूप पहले एक सामान्य निर्विशेष रूप से 'मैं'-रूप में प्रकट होता है, फिर वह विशेष रूप में परिवर्तित होता है, यथा—'मैं राजा हूँ', 'मैं विद्वान् हूँ', 'मैं शक्तिशाली मनुष्य हूँ' आदि। इस अहङ्कार-तत्व के तीन गुण (विशेषतायें) हैं—१ सत्व (प्रकाश या ज्ञान), २ रजस् (क्रिया) और ३ तमस् (निष्क्रियता या आलस्य)। अहङ्कार-तत्व का सत्व-स्वरूप 'तैजस् अहङ्कार' कहलाता है, राजस स्वरूप 'वैखरी अहङ्कार' और तामस स्वरूप 'भूतादि अहङ्कार' कहा जाता है। इस भूतादि अहङ्कार का एक भाग विक्षेप शक्ति है, जो तन्मात्राओं को कारण-भूता है। अपर आणव मल है, जिसे आवरण - शक्ति (ढंकनेवाली शक्ति) कहते हैं।

'वैखरी अहङ्कार प्राण-शक्ति और कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर कार्य करता है और वही उनके कार्यों का आधार है। वैखरी अहङ्कार और प्राण-शक्ति को अलग-अलग तत्व नहीं माना जाता क्योंकि वे कर्मेन्द्रियों और अन्तःकरणों से एकीभूत होकर उन्हीं के अङ्ग बन जाते हैं और उन्हें सक्रिय करते हैं। यही कारण है कि कर्मेन्द्रियों का उद्भव वैखरी अहङ्कार से माना गया है।

'तैजस् अहङ्कार अन्तःकरण—मनस् तत्व और ज्ञानेन्द्रियों—से मिलकर उनका अङ्ग-भूत एवं आधार-भूत बन जाता है। वही उनके द्वारा वस्तुओं को बिना किसी अन्तर के एक समान अनुभूत किए जाने का कारण है। इसी से मनस् तत्व और ज्ञानेन्द्रियों का उद्भव तैजस् अहङ्कार से माना गया है।

२३ वाँ सोपान--'बुद्धि'

'बुद्धि-तत्व (मेधा) २३वाँ सोपान है। यह बुद्धि-तत्व समष्टि-बुद्धि (अभेद या ऐक्य बुद्धि) और महत् तत्व भी कहा जाता है। अन्तःकरण का तैजस् स्वरूप होने से यह बुद्धि-तत्व वस्तुओं का विवेचन करने में सामान्य ऐक्य-भावना से कार्य करता है। इसी बुद्धि-तत्व से अहङ्कार-तत्व (आत्म-श्लाघा) का उद्भव होता है।

२४ वाँ सोपान—'प्रकृति'

'प्रकृति-तत्व २४वाँ सोपान है। यह प्रकृति-तत्व मूल प्रकृति, प्रकृति माया, प्रधान और अव्यक्त (अननुभवनीय) नाम से भी ज्ञात है। इस प्रकृति में सत्व, रजस् और तमस् तीनों गुण निहित हैं। इन गुणों में से एक भी गुण कभी अन्य दो गुणों से अमिश्रित नहीं रहता। जहाँ एक गुण की प्रधानता होती है, वहाँ अन्य दो गुण उससे मिले रहकर उसे पुष्ट करते हैं किन्तु अननुभवनीय रहते हैं। अतः एक गुण का संकेत करने पर यही समझना चाहिये कि उस गुण की प्रधानता है और अन्य दो गुण अननुभवनीय रूप से उसमें निहित हैं। इस मूल प्रकृति के तमोगुण-स्वरूप से बुद्धि-तत्व या महत्-तत्व का उद्भव हुआ है।

'मूल प्रकृति का रजोगुण-स्वरूप अपने को अनेक भागों में विभाजित करता है। ये भाग 'अविद्यायें' कहलाते हैं। यही अविद्यायें जीवों के कारण-शरीरों की रचना करती हैं। इन अविद्याओं में ललिता-ब्रह्म की छायायें प्रतिबिम्बित होती हैं। ये अविद्या-छायायें ही जीव हैं। ये जीव आणव मल की आवरण-शक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं, जो उन्हें अपने सत्य स्वरूप को अनुभव नहीं करने देती। इन अविद्याओं में से कुछ तो सत्व-गुण-प्रधान हैं, कुछ रजोगुण-प्रधान और कुछ तमोगुण-प्रधान।

'सत्व - गुण - प्रधान अविद्याओं में लक्षित जीव केवल 'आणव' मल से ग्रस्त होते हैं और उन्हें 'विज्ञान-कला' कहते हैं। रजोगुण-प्रधान अविद्याओं में लक्षित जीव 'आणव' और 'कार्मण' दो मलों से ग्रस्त होते हैं और वे 'प्रलय-कला' कहलाते हैं। तमोगुण-प्रधान अविद्याओं में लक्षित जीव 'आणव', 'कार्मण' और 'माया'—इन तीन मलों से ग्रस्त होते हैं तथा उन्हें 'सकला' कहते हैं। ये जीव 'आत्मा' नाम से भी जाने जाते हैं।

'मूल प्रकृति के सत्व-गुण-स्वरूप का नाम है 'माया'। इस माया के भी तीन भेद हैं—१ सत्व-माया, २ रजो-माया और ३ तमो-माया। ललिता-ब्रह्म की छाया से युक्त सत्व-माया 'विष्णु'—सृष्टि-पालक कही जाती है। छाया-युक्त रजो-माया 'ब्रह्मा'—सृष्टि-कर्त्ता कहलाती है और छाया - युक्त तमो-माया 'रुद्र'—संहार-कर्त्ता कही जाती है।

'मनस्-तत्व, अहङ्कार-तत्व, बुद्धि-तत्व और प्रकृति-तत्व—ये चार भीतरी बाह्य अङ्ग कहे गए हैं। पृथ्वी से लेकर प्रकृति तक के २४ तत्व आत्म - तत्व, अशुद्ध तत्व और भोग - खण्ड नामों से प्रसिद्ध हैं।

'ओ ऋषि ! आज देर हो गई है। अतः, मैं शेष १२ तत्वों को कल समझाऊँगा।'—हयग्रीव भगवान् ने कहा।

ऋषि अगस्त्य ने भगवान् के चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया, फिर उनके द्वारा की गई देवी-पूजा को देखा और प्रसाद लिया। इसके बाद वे अपनी कुटिया को लौटे, लोपामुद्रा को प्रसाद दिया और जो कुछ उन्होंने भगवान् से सुना था, उसे उन्हें बताया। (क्रमशः)

—प्रेषिका : पीठ-सचिव श्री निर्मलाम्बा देवी

पञ्च-दशी महा-विद्या

पण्डित गङ्गाराम शास्त्री, अरेरा कालोनी, भोपाल (म० प्र०)

शाक्त उपासना में मन्त्र को उपासना का प्रधान साधन माना जाता है। मन्त्र ही उपास्य देवता का वाचक होता है, देवता वाच्य है। मन्त्र को देवता का वर्ण-मय शरीर कहा गया है--'**मन्त्रो वर्ण-मयी तनुः**।' जिस रूप में देवता का ध्यान किया जाता है, साधक उसी भावना से तदाकार होकर वैसा ही अनुभव करने में समर्थ होता है। इसी आत्म-संवित्ति की अवस्था को प्राप्त करना विद्या है। कहा भी गया है—

आत्माकारेण संवित्तिर्बुधैर्विद्येति गीयते।

अन्यत्र भी विद्या को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—

विद्या-शरीर-वत्ता मन्त्र-रहस्यम्।

मन्त्र के रहस्य को स्व-शरीर में अनुभव करना या तदाकार होना विद्या है। शक्ति के उपासक अङ्ग-न्यास और कर-न्यास तथा मातृका वर्णों के न्यास के द्वारा अपने शरीर में ही देवत्व की भावना करते हैं। इसीलिए शक्ति के मन्त्रों को विद्या कहा जाता है। 'ललिता-सहस्र-नाम' के भास्कर-भाष्य में इसीलिए कहा गया है—**पुं-दैवत्या मन्त्राः स्त्री-दैवत्याः विद्या।**

शाक्त उपासना का मूल स्रोत वेद ही हैं। 'त्रिपुरोपनिषद्' में कहा गया है—

कामो योनिः कमला वज्र-पाणिः गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्व-माताऽऽदि - विद्या॥

इन संकेताक्षरों से जो मन्त्र बनता है, वह इस प्रकार है—काम (क), योनि (ए), कमला (ई), वज्र-पाणि (ल), गुहा (ह्रीं), 'ह' और 'स', मातरिश्वा (क), अभ्र (ह), इन्द्र (ल), पुनः गुहा (ह्रीं), 'स', 'क', 'ल' और माया (ह्रीं)।

इस प्रकार यह पन्द्रह वर्ण का मन्त्र होने के कारण इसे पञ्च-दशी कहा जाता है। इस मन्त्र का आदि वर्ण 'क' होने के कारण 'तन्त्र-राज' के अनुसार कादि—'**ककारः आदिर्यस्यां सा कादिः काली-शक्तिः**' अर्थात् ककार जिसके आदि में है, वह कादि काली-शक्ति कही जाती है। इसीलिए 'काली-सहस्रनाम' में देवी के सभी नाम ककार से प्रारम्भ होते हैं।

ध्यान के समय देवता के विषय में पुरुष अथवा स्त्री-रूप की कल्पना वास्तव में मन का विकल्प मात्र है। शक्ति तो अनिर्वचनीय है, सभी नाम-रूप और मातृका-वर्ण उसी से निःसृत हैं। यह सब उसे रूप-कल्पना के द्वारा अरूप और असीम को अपनी सुविधा के अनुसार ससीम करने का प्रयास मात्र है। इसीलिए कहा गया है—

पुं-रूपं वा स्मरेद् देवीं स्त्री-रूपं वा विचिन्तयेत्। अथवा निर्गुणं ध्यायेत् सच्चिदानन्द-विग्रहम्॥

देवी को पुरुष-रूप में ध्यान करे अथवा स्त्री-रूप में अथवा सत्, चित् और आनन्दावस्था निर्गुण रूप का ध्यान करे।

सृष्टि में जो चेतना है, जो स्पन्दन है, जो स्फुरणा है, जो गति है, प्रकाश में जो विद्युत् है–ये सब क्या स्त्री के रूप हैं ? वास्तव में व्याकरण के अनुसार ये सब स्त्री-लिङ्ग हैं, अतः हम शक्ति का स्त्री-रूप में ही ध्यान करते हैं। कहा गया है–

'न त्वमम्ब ! पुरुषो न चाङ्गना चित्-स्वरूपिणि ! न षण्ढताऽपि ते।
नापि भर्तुरपि ते त्रि-लिङ्गता त्वां विना न तदपि स्फुरेदयम् ॥'

हे अम्ब ! आप न पुरुष हैं, न स्त्री और न नपुंसक। आप तो केवल चेतना मात्र हैं। आपके पति में भी तीनों लिङ्ग नहीं हैं। आपके बिना उनमें भी स्फुरण नहीं होता।

अतः जिस सत्ता का प्रकाश-रूप शिव है, उसी सत्ता का विमर्श-रूप शक्ति है। जागतिक प्रपञ्च पञ्च-महा-भूतों का संघात है, जिसमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश में क्रमशः जो तत्व वर्तमान हैं, उन्हीं का पञ्च-दशी रूप शक्ति है। पृथ्वी में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द—ये पाँचों हैं। जल में रूप, रस, स्पर्श और शब्द–ये चार गुण हैं। तेज अथवा प्रकाश में रूप, स्पर्श और शब्द—ये तीन और वायु में शब्द और स्पर्श–ये दो तथा आकाश में केवल शब्द गुण है। इनका योग पञ्च-दशी है, इनमें व्याप्त शक्ति इसलिए पञ्चदशी कहलाती है।

काल-परिणाम के क्रम में पञ्च-दश तिथियाँ होती हैं, जैसा कि 'भावनोपनिषद्' में कहा गया है—

पञ्चदश-तिथि-रूपेण कालस्य परिणामावलोकनं पञ्चदश-नित्याः।

प्रपञ्च-रूप में काल ही परिणत हो रहा है, इसीलिए देवी की पञ्च-दश नित्या कलाएँ मानी गई हैं। प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक पन्द्रह तिथियाँ होती हैं, जिनकी अधिष्ठात्री त्रिपुर-सुन्दरी आदि पञ्च-दश नित्यायें हैं। चन्द्र की पन्द्रह कलाओं के नाम इस प्रकार हैं—१ दर्शा, २ दृष्टा, ३ दर्शता, ४ विश्व-रूपा, ५ सुदर्शना, ६ आप्याय-माना, ७ आप्याय-माना, ८ आप्याया, ९ सूनृता, १० इरा, ११ आपूर्यमाणा, १२ आपूर्यमाणा, १३ पूरयन्ती, १४ पूर्णा और १५ पूर्णमासी। इनके तीन खण्ड होते हैं—आग्नेय, सौर और सोम्य।

दर्शा, दृष्टा, दर्शिता, विश्व-रूपा और सुदर्शना—इन पाँच का आग्नेय खण्ड होता है। आप्याय-माना, आप्यायमाना, आप्याया, सूनृता और इरा—इनका सौर खण्ड होता है। आपूर्यमाणा, आपूर्यमाणा, पूरयन्ती, पूर्णा और पौर्णमासी—ये पाँच चान्द्र खण्ड में आती हैं। ज्योतिष - शास्त्र के अनुसार भी तिथियों के ये तीन विभाग नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा के तीन खण्ड के क्रम से मान्य किए गए हैं।

इसी प्रकार पञ्चदशी-मन्त्र के तीन कूट होते हैं। इस तिथि-क्रम को श्वासात्मक मानकर आरा-धना के क्रम में प्रति-दिन २१,६०० श्वास होते हैं। इन्हें पन्द्रह से विभाजित करने पर दिन के पन्द्रह भागों में पन्द्रह नित्या कलाओं में प्रत्येक का समय १,४४० श्वास-काल का होता है। ऐसा ही 'भावनोप-निषद्' की भास्कर राय व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। 'सुभगोदय' में बताया गया है कि ये पन्द्रह नित्या कलायें ही षोडशार में परिभ्रमण करती हैं। इस प्रकार विशुद्धि चक्र में इनका ध्यान किया जाता है।

पञ्चदशी-मन्त्र के तीन कूटों के स्वर और व्यञ्जनों की गणना इस प्रकार की जाती है–प्रथम कूट में पाँच अक्षर हैं, जिनमें चार व्यञ्जन, तीन स्वर, एक नाद और एक बिन्दु मिलकर नौ होते हैं।

दूसरे कूट में छः अक्षर हैं, जिनमें सात व्यंजन, एक स्वर, एक नाद और एक बिन्दु मिलाकर दस होते हैं। तीसरे कूट में चार अक्षर हैं, जिनमें पाँच व्यंजन, एक स्वर, एक नाद और एक बिन्दु मिलाकर आठ होते हैं। इन सबका योग २७ सत्ताईस होता है। यही ख-मण्डल के २७ नक्षत्र होते हैं, जिनमें प्रत्येक के चार चरण मानकर २७×४ बराबर १०८ होते हैं। इन्हीं १०८ दानों की माला बनती है। मन्त्र की १०८ आवृत्तियों का यही रहस्य है।

ऊपर जिन तिथि कलाओं का उल्लेख किया गया है, आराधना-क्रम में उन सबकी अधिष्ठात्री कामेश्वरी और अधि-देवता कामेश्वर माने गए हैं। काम-शास्त्र के अनुसार पन्द्रह तिथियों में शरीर के विभिन्न अङ्गों में जो काम-देवता के स्फुरण का वर्णन किया जाता है, उसे केवल काम-शास्त्र का विषय मानकर विद्वानों ने उपेक्षित कर दिया है। वास्तव में वह उस तिथि को स्त्री-पुरुष के उस-उस अङ्ग में चन्द्र की सौम्य-कला और सुधा-सञ्चरण का विवरण है, जिसका उद्देश्य और उपयोगिता कुछ और ही है। यहाँ उसका संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

'ललिता-सहस्रनाम' में देवी का एक नाम आया है—**'प्रतिपन्मुख्य-राका-तत्-तिथि-मण्डल-पूजिता।'** प्रतिपदा से लेकर राका पूर्णिमा तक पन्द्रह तिथियों की अधिष्ठात्री पञ्चदशी है। इसमें अमावास्या की गणना नहीं की जाती। इन तिथियों के जो देवता हैं, उनके द्वारा पूजित—ऐसा भी अर्थ किया गया है। कादि-मत के क्रम से उनके नाम दिए गए हैं—

बह्निदस्रावुमा विघ्नो भुजङ्गः षण्मुखो रविः, मातरश्च तथा दुर्गा विश्वे धनद-केशवौ। यमो हरः शशी चेति तिथीशाः परिकीर्तिताः॥

प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक क्रम से तिथियों के देवता इस प्रकार हैं—अग्नि, अश्विनी-कुमार, उमा, गणेश, नाग, कार्तिकेय, सूर्य, माता, दुर्गा, विश्वेदेवा, कुबेर, विष्णु, यम, शिव और शशि।

ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार माता के स्थान पर शिव, दशमी के यम, एकादशी के विष्णु, फिर हरि, काम, शिव और शशि ये बताए गए हैं। इनमें अधिक अन्तर नहीं है। इसके दो आशय हैं कि जिस तिथि का जो देवता है, उस तिथि में उसका प्रभाव रहता है। दूसरे उसी तिथि में उसका पूजन किया जाता है। उस देवता का प्रभाव केवल प्रकृति में ही नहीं, मानव शरीर पर भी रहता है। इसीलिए उस देवता की रुचि के अनुसार कार्य उस तिथि में करने से सिद्धि प्राप्त होती है।

इसी प्रकार भगवती पञ्चदशी की जिस-जिस चान्द्री कला का मानव शरीर के जिस-जिस अङ्ग पर विशेष प्रभाव रहता है, शरीर के जिस अङ्ग में काम-कला का वास रहता है, उसी को काम-शास्त्र में काम-देव का वास मान लिया गया है। उसके अनुसार कहा गया है कि शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को चन्द्रमा की सुधा कला स्त्रियों के पैर के अँगूठे में, द्वितीया को पाद-तल में, तृतीया को टखनों में, चतुर्थी को घुटनों में, पञ्चमी को योनि में, इसी प्रकार षष्ठी आदि तिथियों को क्रमशः नाभि, हृदय, जंघा, कण्ठ, कपोल, गण्ड(कनपटी), ओठ, नेत्र, कान, माथा और शिर में निवास करती है। कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से यह क्रम उलटा हो जाता है। अर्थात् प्रतिपदा को माथा, कान, नेत्र आदि का क्रम हो जाता है।

यह भी बताया गया है कि शुक्ल पक्ष में उक्त कला पुरुषों के दक्षिण-भाग में और स्त्रियों के वाम-भाग में तथा कृष्ण पक्ष में पुरुषों के वाम-भाग और स्त्रियों के दक्षिण-भाग में निवास करती है।

शरीर में सहस्रार के चन्द्रमा से जो सुधा-स्राव होता रहता है, उसे अधिकांश में अनाहत चक्र में स्थित सूर्य सोख लेता है। जितना अंश शरीर को मिलनेवाला है, उसमें उपर्युक्त सुधा-कला के निवास का क्रम है। उस दिन उस तिथि को उस अङ्ग-विशेष में, बिना स्त्री-पुरुष के, वाम - दक्षिण के भेद के, सभी की दोनों आँखों, दोनों कानों, दोनों जंघाओं, दोनों ही टखनों आदि में सुधा-स्राव होता है। शुक्ल-कृष्ण-पक्ष के क्रम से और स्त्री-पुरुष के विचार से उसकी मात्रा में न्यूनता और अधिकता भले ही हो। जैसे कि शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को पुरुष के दक्षिण-भाग में और स्त्री के वाम-भाग में अंगुष्ठ में सुधा-स्राव अधिक हो और पुरुष के वाम-भाग और स्त्री के दक्षिण-भाग में न्यून मात्रा में हो, पर होता तो दोनों ही ओर है।

अमावास्या को सूर्य और चन्द्र के एक राशि पर आ जाने के कारण जिस प्रकार पृथ्वी चन्द्रिका से वञ्चित हो जाती है, उसी प्रकार इस शरीर में भी उस दिन अमृत का यह अंश अङ्गों को नहीं मिल पाता। यह अमृतांश ही सत्व और ओज है।

हमारे यहाँ शास्त्रकारों ने अमावास्या को गर्भाधान का निषेध किया है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार अमावास्या को विधु-क्षय होने के कारण गर्भाधान वर्जित है क्योंकि जिस समय विश्व में चन्द्र के सौम्य अंश का अभाव होगा, उस समय शरीर में भी चन्द्र के सौम्य अंश का अभाव होगा। उस समय जिस रज-वीर्य से गर्भ धारण होगा, उस सन्तान में ओज और सत्व-गुण का अभाव रहता है। इसी प्रकार यदि अमावास्या को किसी शिशु का जन्म होता है, तो उसे सौर अंश की रूक्षता तो प्राप्त होती है, पर चन्द्र-अंश की सुधा न मिलने के कारण ऐसे व्यक्तियों में से अधिकांश दीन, हीन और दुखी रहते हैं। इसीलिए ज्योतिष-शास्त्र में स्त्री ही नहीं, गाय-भैंस का ब्याना भी अमावास्या में अशुभ बताया गया है।

जिस दिन जिस स्थान में चन्द्र-कला का वास होता है, उससे सप्तम स्थान में विष रहता है। अतः यदि किसी को सर्प आदि किसी विषैले जानवर ने काटा हो, तो उस दिन यदि उस स्थान में सुधा-स्राव हो, तो विष का प्रभाव न्यून-तम होगा, वह शीघ्र स्वस्थ होगा। यदि उस दिन उस स्थान में विष का वास हो, तो विष का प्रभाव और तीव्र हो जायेगा। इसी प्रकार यदि किसी अङ्ग में विकार, पीड़ा अथवा फोड़ा, व्रण आदि हो, तो जिस दिन उस अङ्ग में चान्द्री कला का वास हो, उस दिन उपचार करने से अधिक लाभ होता है।

जो व्यक्ति मन्त्रों के द्वारा झाड़-फूंक का काम करते हैं, अथवा मेस्मेरिज्म अथवा हिप्नोटिज्म अथवा मार्जन-क्रिया से उपचार करते हैं, उन्हें शरीर के अङ्ग में तिथि के अनुसार यदि अमृत-क्षरण का ज्ञान हो, तो उनका उपचार अधिक प्रभावी होगा। जो व्यक्ति प्राणायाम और योग-क्रियायें करते हैं, उन्हें अपने अथवा दूसरों में प्राण-शक्ति का संचार करने के लिए अमृत-स्राव की इस क्रिया को समझ कर अभ्यास करने से वह स्वयं दुःख, बुढ़ापा, अपमृत्यु और वली-पलित—शरीर में झुर्रियाँ पड़ना और केश श्वेत होना—आदि के आतङ्क से मुक्त हो जाता है। रोग तो कभी भी नहीं हो सकता।

कहा तो यहाँ तक गया है कि जिस अङ्ग में चन्द्रमा की कला का निवास होता है, उस स्थान पर प्राण-वायु का संचार करने—यदि संचार करने तक का अभ्यास न हो, तो चिन्तन करने से आयु, पुष्टि, लक्ष्मी, कान्ति, चिर-यौवन और तेज उसे प्राप्त होते हैं। कहाँ तो प्राण-दायिनी, जीवन-दायिनी, काल के प्रभाव से मुक्त करनेवाली सोम-कला और कहाँ हमने अज्ञान से उसे काम-शास्त्र का विषय मान-कर उपेक्षित कर रखा है!

श्री-चक्र के अनुसार तो श्रीमत्-पञ्च-दशाक्षरी का पूजन होता ही है किन्तु यन्त्र-शास्त्र के अनु-सार नव-कोष्ठ का पन्द्रह के अङ्क का जो यन्त्र बनाया जाता है, उसकी अधिष्ठात्री भी पंच-दशी होने के कारण उसी यन्त्र के यन्त्र-शास्त्र में अनेक भेद और अनेक प्रयोग बताए गए हैं। पर आज-कल यन्त्र-शास्त्र की केवल एक पुस्तक 'यन्त्र-चिन्तामणि' ही प्रकाशित देखने में आयी है, हो सकता है कि कुछ और भी प्रकाशित हों, पर शिव-ताण्डव, यन्त्रार्णव, कोष्ठक-समुद्र, यन्त्र-पटल, महा-यन्त्र-राज, वृहत-कोष्ठक चिन्ता-मणि, यन्त्र-राजागम-शास्त्र आदि ग्रन्थ, अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाए हैं। नव-कोष्ठक पन्द्रह के यन्त्र का यहाँ दिङ्-मन्त्र निर्देश किया जा रहा है।

एक से लेकर नौ तक के अङ्कों से नव-कोष्ठ का जो चक्र बनता है, उसे 'उड्डीश तन्त्र' में पंच-दशी महा-विद्या कहा गया है। उन अङ्कों का योग पन्द्रह होता है। गृहस्थ लोगों के यहाँ, विशेष कर दूकानदार, दीवाली-पूजन पर इस यन्त्र को लिखकर लक्ष्मी की स्थिरता की कामना से उसका पूजन करते हैं। नाम के प्रथमाक्षर के अनुसार साधक को राशि निर्धारित कर फिर इस यन्त्र के विभिन्न भेदों के अनुसार उसके लिए जो यन्त्र हित-कर होता है, उसी के द्वारा साधना करने से कार्य-सिद्धि होता है। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार मीन, कर्क और वृश्चिक राशिवाले ब्राह्मण-वर्ण; मेष, सिंह और धनु क्षत्रिय-वर्ण; वृष, मिथुन, कन्या और मकर राशि वैश्य वर्ण तथा मिथुन, कुम्भ और तुला-राशि शूद्र-वर्ण मानी गई हैं। इस यन्त्र को भी इसी प्रकार लेखन-क्रम से खाकी, वादी, आबी और आतसी बताया गया है। यथा—

१ खाकी　　२ बादी

८	१	६
३	५	७
४	९	२

८	३	४
१	५	९
६	७	२

६	१	८
७	५	३
२	९	४

६	७	२
१	५	९
८	३	४

२	९	४
७	५	३
६	१	८

२	७	६
९	५	१
४	३	८

४	३	८
९	५	१
२	७	६

४	९	२
३	५	७
८	१	६

३ आबी　　४ आतसी

ब्राह्मण के लिये 'खाकी', क्षत्रिय के लिए 'वादी', वैश्य के लिए 'आबी' और शूद्र के लिये 'आतसी' शुभ होता है।

'यन्त्र-तन्त्र-कोष्ठक चिन्तामणि' में इनके अतिरिक्त इनके अक्षरों के क्रम से भी कुछ भेद बताए हैं। उसमें विप्र-जय, विप्र-हानि, क्षत्रिय-जय, क्षत्रिय-हानि, वैश्य-जय, वैश्य-हानि, शूद्र-जय, शूद्र-हानि—इस प्रकार आठ यन्त्र देकर यह स्पष्ट किया है कि अमुक-वर्णवाले को अमुक यन्त्र फल-प्रद और अमुक हानि-कारक होता है। श्रीनीलकण्ठ-कृत 'शिव-ताण्डव' के त्रयोदश पटल में इन सभी यन्त्रों का उनके देवता और मन्त्रों-सहित सविस्तार वर्णन किया गया है, पर जहाँ तक मुझे जानकारी है, उक्त ग्रन्थ अब तक अप्रकाशित है।

आज-कल लड़के-लड़कियों के विवाह के लिए अभिभावकों को प्रायः बड़ी कठिनाइयों से गुज-रना पड़ता है। उनकी सुविधा के लिए एक प्रयोग यहाँ दिया जाता है—

वर अथवा कन्या की राशि की अनुकूलता का विचार कर उक्त पञ्च-दशी यन्त्र को भोज-पत्र
पर जुही की लेखनी से लिखे। लिखने के क्रम में प्रथम पाँच के अङ्क से प्रारम्भ करके लिखना चाहिए।
उसका विधि-वत् पूजन कर निम्न-लिखित मन्त्र का ६५ (पैंसठ) हजार जप करने से विवाह - संबन्ध में
सफलता मिलती है--

ॐ नमो कात्यायनी-देव्यै स्वाहा।

विवाह के लिए कात्यायनी देवी की उपासना का विधान वैसे भी बताया गया है (देखें
'सन्तान-सुख-प्राप्ति के प्रयोग')। सीता जी ने इनकी उपासना की थी।

काम्य-कर्मों की सामान्य साधना के अतिरिक्त आत्म-कल्याण के लिए 'श्री-यन्त्र' का पूजन और
कादि, हादि तथा सादि-विद्या के क्रम से पञ्च-दशी मन्त्र की साधना की जाती है। भगवत्पाद शङ्करा-
चार्य ने 'सौन्दर्य-लहरी', श्लोक ३२ में इस मन्त्र का उद्धार दिया है। लक्ष्मीधरी व्याख्या में उसे कादि-
विद्या माना गया है। डिण्डिम-भाष्य और कैवल्याश्रमी टीका के अनुसार इसे हादि-विद्या का मन्त्र मान
कर व्याख्या की गई है। यदि इसे कादि-विद्या का मन्त्र मानें, तो अगले श्लोक में हादि - विद्या का भी
उल्लेख है। यद्यपि इस मन्त्र के द्रष्टा कामदेव मन्मथ ऋषि हैं, पर कादि-हादि-भेद से अगस्त्य ऋषि के
द्वारा कादि-विद्या की उपासना किये जाने के कारण कादि-विद्या के आचार्य अगस्त्य ऋषि, हादि-विद्या
की लोपामुद्रा और सादि-विद्या के नन्दिकेश्वर माने जाते हैं। इन मन्त्रों को गुरु - मुख से ही जानना
चाहिए। पाठकों की जिज्ञासा के लिए यहाँ उन्हें दिया जा रहा है–

कादि-विद्या–कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं (क-५ ह-६ स-४)

हादि-विद्या–हसकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं (ह-५ ह-६ स-४)

सादि-विद्या–सएईलह्रीं सहकहलह्रीं सकलह्रीं (स-५ स-६ स-४)

लौकिक सिद्धियों के अभिलाषी कादि-विद्या के पूर्व **'क्लीं ह्रीं श्रीं'** लगाकर अपनी मनोकामना
पूरी करते हैं।

इस मन्त्र के तीन खण्डों का कुण्डलिनी-जागरण के लिए विशेष प्रयोजन होने के कारण उसका
निर्देश करना भी अप्रासङ्गिक न होगा। इसका प्रथम खण्ड 'आग्नेय', द्वितीय खण्ड 'सौर' और तृतीय
खण्ड 'सौम्य' कहा जाता है। कहा भी है–**'त्रिखण्डो मातृका-मन्त्रः सौम्य-सूर्यानलात्मकः।'**

आग्नेय और सौर खण्ड के मध्य हृल्लेखा (ह्रीं) **'रुद्र-ग्रन्थि'**, सौर और सौम्य खण्ड के बीच
हृल्लेखा **'विष्णु-ग्रन्थि'** तथा सौम्यखण्ड और सहस्रार के बीच 'ह्रीं' **'ब्रह्म-ग्रन्थि'** की द्योतक है। कुण्डलिनी-
जागरण के समय मन्त्र-वर्णों का ध्यान करते हुए उन्हें क्रमशः अधः-सहस्रार, विष्णु-स्थान, मूलाधार,
स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, लम्बिका, आज्ञा, विन्दु, अर्ध-चन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त,
शक्ति में लय कर देने पर जब उन्मनी भाव की सिद्धि होती है, वही सामरस्यावस्था कही जाती है, जिसके
लिए कहा गया है–**'यदा यात्युन्मनी-भावं तदा वृष्टानुपश्यति।'**

पञ्चदशी-विद्या को **'चन्द्र-कला-विद्या'** भी कहते हैं। चन्द्रमा की गति के अनुसार वर्ष में ३६०
दिन होते हैं, जो छः ऋतुओं में विभाजित हैं। शरीर में मूलाधार से लेकर आज्ञा-चक्र तक इन ऋतुओं के
प्रतिनिधि हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र जिस प्रकार सृष्टि का नियमन करते हैं, उसी प्रकार शरीर में ब्रह्म-
ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि और रुद्र-ग्रन्थि हैं। बाहर जिस प्रकार पंच-तत्वों और मन से सृष्टि है, उसी प्रकार
इस। शरीर में भी है। इनकी कुल ३६० कलायें मानी गई हैं। 'सौन्दर्यलहरी', श्लोक १४ में उनका वर्णन
हुआ है। इनका ज्ञान पाकर तदनुसार साधना करने से भूत-जय होकर साधक को विभिन्न प्रकार की
सिद्धियाँ मिलती हैं जिनका योग-दर्शन के विभूति-पाद में वर्णन है।

पन्द्रह तिथियों में दोनों पक्षों की तिथियों के नाम प्रतिपदा आदि समान हो हैं, जिसका रहस्य यही है कि अमावास्या के दिन सूर्य और चन्द्र एक राशि पर होने के कारण विधु-क्षय रहता है। शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन उसकी प्रथम कला बाहर होती है, जिसे प्रतिपदा कहते हैं। कृष्ण पक्ष में वही कला सूर्य में समाविष्ट होने के कारण उसे प्रतिपदा कहते हैं। इसी प्रकार शुक्ल पक्ष की द्वितीया को दूसरी कला, तृतीया को तीसरी कला निकलती है और तदनुसार उसी क्रम से कृष्ण पक्ष में लीन होती जाती है। शुक्ल पक्ष में रात्रि में इस प्रकार चन्द्र-कलाओं से सुधा-स्राव होने से इन रात्रियों को मधु-वृषा कहा जाता है। मधु का संचय रात्रि में ही होता है, इसलिए शुक्ल पक्ष की रात्रियों में ही कुण्डली - जागरण करने का विधान है।

मूलाधार से क्रमशः कुण्डली जागृत होकर जब ऊर्ध्व-गमन करती है, तो इसे 'उन्नेय भूमिका' कहते हैं। उसके सहस्रार में पहुँचने पर मधु का शोषण करनेवाला अनाहत में स्थित पद्म ऊर्ध्व-मुख हो जाता है, इसलिए सूर्य सहस्रार में स्थित चन्द्र से होनेवाले सुधा-स्राव का शोषण नहीं कर पाता और साधक उस सुधा-स्राव से कृत-कृत्य हो जाता है, जिसके लिए सौन्दर्यलहरी में कहा गया है—

सुधा-धारा-सारैश्चरण - युगलान्तर्विगलितैः, प्रपञ्चं सिंचन्ती पुनरपि रसाम्नाय-महसा।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजग-निभ-मध्युष्ट-वलयं, स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुल-कुण्डे कुहरिणी।

अर्थात् 'सहस्रार तक उत्थित होकर वहाँ आज्ञा-चक्र के द्वि-दल पद्म पर अपने दोनों चरण रखकर अमृत-वर्षा करती हुई शरीर-प्रपञ्च को अमृत-सिक्त कर देती है।' इसे 'अन्वय भूमिका' कहा जाता है, जिसमें इस अमृत-वर्षा से शरीर की ७२ हजार नाड़ियों का अमृत से आप्यायन होता है। छहों चक्रों में अमृत का निर्झर-सा फूट पड़ा हो, ऐसा साधक अनुभव करता है। फिर 'प्रत्यावृत्ति-भूमिका' आती है, जिसमें कुण्डलिनी पुनः नीचे आकर मूलाधार के गह्वर में साढ़े तीन वलय से सर्पाकार-स्थिति में सो जाती है। ब्रह्माण्ड में जो शक्ति का रूप है, वही पिण्ड में कुण्डलिनी है, उसके जागरण से ही—

'भिद्यते हृदय-ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व-संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।'

अर्थात् 'हृदय की अज्ञान की गाँठ खुल जाती है; सभी संशय मिट जाते हैं, कर्मों का क्षय हो जाता है, प्रकृति के सारे रहस्य स्वयं उद्भासित हो जाते हैं।'

मन्त्र, चक्र, ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड के ऐक्य की भावना करते हुये मन्त्र-जप और चन्द्र-पूजन को 'बहिर्याग' और षट्-चक्र-वेध के क्रम से कुण्डलिनी-जागरण को 'अन्तर्याग' कहा जाता है।

(पृष्ठ ३२ का शेषांश)

६—पृष्ठ ७०, पंक्ति १८ में 'त्यस्राग्र' लिखा है। 'त्यस्र' से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—'त्र्यस्र' से तात्पर्य है त्रिकोण से।

७—पृष्ठ ७६ पर अस्त्र मन्त्र, हृदय मन्त्र से क्या आशय है? षोडशाङ्ग, दशाङ्ग, षडङ्ग धूप पर भी प्रकाश डालें।

अस्त्र = फट्, हृदय = नमः। 'धूप' के सम्बन्ध में कृपया 'मुद्राएं और उपचार' देखें।

८—पृष्ठ १०७ पर सप्तदशाक्षरी संजीवनी मन्त्र का उल्लेख है किन्तु जो मन्त्र दिया है, वह सोलह अक्षरों का है। एक अक्षर कौन सा छूट गया है?

उत्तर—'श्रीं' के बाद 'ह्रीं' छपने से रह गया है। कृपया उसे जोड़ लें।

जिज्ञासाओं का समाधान

'श्री श्रीविद्या नित्यार्चन' पुस्तक-सम्बन्धी जिज्ञासाएँ

साधना के सम्बन्ध में पुस्तकों से सहायता अवश्य मिलती है किन्तु विशेष बातों के समझने के लिये गुरुदेव से पूछना ही पड़ता है। इसके सिवा पुस्तकों में मुद्रण या सम्पादन की त्रुटियाँ भी रहती हैं, जिनका निराकरण जानकार साधक ही कर सकते हैं। इसी से शास्त्रों का स्पष्ट निर्देश है कि केवल पुस्तक के सहारे कोई साधना नहीं करनी चाहिये।

यह दुःख की बात है कि विज्ञ साधक पुस्तकों के संशोधन के सम्बन्ध में जागरूक नहीं हैं। अधिकांश लोग अपनी पुस्तक में तो गुरुदेव की कृपा से संशोधन कर लेते हैं किन्तु प्रकाशक को त्रुटियों की सूचना नहीं देते। फलतः वे त्रुटियाँ बनी ही रह जाती हैं। तथापि कुछ उदार शोध-शील सज्जन ऐसे भी हैं, जो इस सम्बन्ध में लेखक-प्रकाशक को पत्र लिखकर त्रुटियों के सम्बन्ध में जिज्ञासा करते रहते हैं, जिससे उनके दूरीकरण में बड़ी सहायता मिलती है।

अलीगढ़ (उ० प्र०) से कविराज श्री ओउम् स्वरूप 'अंकुश' ने श्री **'श्रीविद्या-नित्यार्चन'** नामक पुस्तक के सम्बन्ध में ऐसी ही उद्बोधक जिज्ञासाएँ की हैं, जिनके समाधान से बहुतों को लाभ पहुँच सकता है।

१—पृष्ठ १०, 'प्रातः-कृत्य' के ८ वें श्लोक में 'आ (?) यामि जगन्मूलं यन्मूलं स-चराचरम्' में प्रश्नाङ्कित स्थान पर अक्षर छपने में उठा नहीं है। वहाँ कौन सा अक्षर है?

उत्तर—'आधयामि' में 'ध'-अक्षर स्पष्ट नहीं छपा है।

२—पृष्ठ १७ 'सन्ध्या-वन्दन' में : 'इसके बाद नीचे लिखे मन्त्रों से ९ बार आचमन करें' किन्तु पुस्तक में ८ मन्त्रों का ही उल्लेख है। ९ वाँ मन्त्र कौन सा उच्चारण किया जायगा?

'४क-५' में पाँच से तो मूल-मन्त्र के प्रथम कूट का उच्चारण किया जायगा किन्तु ४ अङ्क से क्या उच्चारण किया जायगा?

उत्तर—पृष्ठ १८ पर '४क-५आत्म-तत्त्वं शोधयामि स्वाहा' के बाद '४ स-४ शिव-तत्वं शोधयामि स्वाहा' छूट गया है। उसे लेकर नौ मन्त्र हो जाते हैं।

४ अङ्क=ॐ ऐं ह्रीं श्रीं—इन्हीं चार बीजों का उच्चारण करना चाहिये।

३—देवी-मान का वर्ष, मास, दिवस का उच्चारण किस भाँति किया जाय?

उत्तर—इस सम्बन्ध में 'तान्त्रिक पंचाङ्ग' देखना चाहिये।

४—पृष्ठ २२ पर 'चक्रेश्वरी-पारायण' में प्रत्येक मन्त्र के आदि में 'ॐ ३क-१५' जोड़ना है। अङ्क ३ से क्या आशय है? 'दिन० लृं ७ ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः' में अङ्क ७ के स्थान पर क्या उच्चारण होगा? पृष्ठ ३७ पर मातृका-न्यास, ऋष्यादि-न्यासादि में अङ्क ७ है, वहाँ क्या होगा?

उत्तर—अङ्क ३=ऐं ह्रीं श्रीं। लृं ७=लॄं लृं एं ऐं ओं औं अः। पृष्ठ ३७ पर अङ्क ७=ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः।

५—पृष्ठ ६० पर विशेषार्घ्य-पूजन में ९५ मन्त्रों से पूजन करने का निर्देश है किन्तु कलाओं की संख्या ८८ ही है!

उत्तर—'हंसः शुचिषद्' आदि ७ मन्त्रों को लेकर कुल ९५ मन्त्र हो जाते हैं।

(शेष पृष्ठ ३१ पर)

दक्षिण भारत में दुर्गा-पूजा

श्री श्रीकृष्ण पिच्चुमणि अय्यङ्गार, श्री रङ्गम् (तमिलनाडु)

'चण्डो' के गत वर्ष के अङ्कों में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि जगन्माता चामुण्डा के कर्णाभरण के रूप में अश्विनी देवताओं की स्थिति है—'**कर्णौ यस्य तु चाश्विनौ**।' मनुष्य के सभी अङ्गों में मुख प्रधान है, सिद्ध-पुरुषों के भी शरीर में कानों की प्रधानता दिखाई देती है।

'कानों में फूल लपेटना'—तमिल भाषा का प्रसिद्ध मुहावरा है, जिसका अर्थ है 'वश में लाना।' अतः जगन्माता के मन्त्र की सिद्धि के लिए अश्विनी देवताओं का अनुग्रह अत्यावश्यक है।

अश्विनी-देवताओं का स्वरूप

तपः परं कृत-युगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे भक्तिरित्याहुः शक्तिरेव कलौ युगे ॥१

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥२

अजां एकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां, बह्वीं जनयन्तीं स-रूपाम्।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्त-भोगां अजोऽन्यः ॥३

नाभेः ऊर्ध्वं नराकृतिः ॥४

अश्विनी देवताओं के स्वरूप पर पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत विचार-विमर्श किया है। 'पुरुष-सूक्त' में कहा है—'**अश्विनौ व्यात्तं**' अर्थात् अश्विनी देवताओं की सर्वत्र व्याप्ति है।

उपर्युक्त चार प्रमाणों में से पहला प्रमाण 'शाक्तोपनिषद्' से लिया गया है। कहा जाता है कि '**गो-ब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यम्**।' धर्म-देवता जगदम्बा के स्वरूप में १ तप, २ ज्ञान, ३ भक्ति तथा ४ शक्ति—ये चारों चरण हमारे लिए वन्दनीय हैं। जगदम्बा धर्म-स्वरूपा गो-माता है। कृत-युग में गो-माता के चारों चरण दृढ़ हैं। परन्तु त्रेता-युग में तप करना कठिन हो जाता है। अतएव जगदम्बा ने श्री रामचन्द्र की पत्नी सीता माता के स्वरूप में तपस्वियों की रक्षा के लिए दशानन रावण का वध कराया था। नवरात्र के दिनों में दुर्गा की 'ज्ञान-स्वरूपा' के रूप में पूजा की जाती है। द्वापर-युग में तप और ज्ञान दोनों के लुप्त हो जाने पर श्रीकृष्ण की सहोदरी के रूप में जगदम्बा का आविर्भाव हुआ, अतः श्रीकृष्ण द्वारा 'भक्ति-मार्ग' का प्रचार हुआ और यह कहा गया कि—

सर्व-धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्व-पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

कलि-युग में तप, ज्ञान, भक्ति—इन तीनों का लोप हो जाता है। ब्राह्मण और अब्राह्मण—सबके सब शिश्नोदर-परायण हो जाते हैं। तभी जगदम्बा का आविर्भाव योगिराज गुप्तावतार बाबाश्री, राष्ट्र-गुरु स्वामी जी, 'कौल-कल्पतरु' शुक्ल जी और हमारे पूज्य पितामह हरिहरेश्वर आदि जैसे युग-पुरुषों की वाणी द्वारा प्रकट होता है। 'शक्ति' जगदम्बा हैं, गुरु 'शिव' हैं और इन दोनों के सङ्गम प्रयाग तीर्थ-राज में निरन्तर विराजमान हैं। उस तीर्थ-राज में स्नान करके कायिक, मानसिक तथा वाचिक शुद्धि करना अध्यात्म-मार्ग के सभी पथिकों के लिये अनिवार्य है।

दूसरा प्रमाण भगवद्-गीता से लिया गया है। '**सदृशं चेष्टते स्वस्याः**—श्लोक से भगवान् ने यह सङ्केत किया है कि कृत-युग का 'तप' और त्रेता-युग का 'ज्ञान' द्वापर-युग में काम नहीं आते। भगवान्

स्वयं यह प्रश्न करते हैं कि 'इन्द्रिय-निग्रह क्या कर सकता है ?' क्योंकि सभी इन्द्रिय भूतादि के विकार है, अतः ज्ञान-वान् व्यक्ति भी विवश है। भक्ति को ही एक-मात्र उपाय के रूप में श्रीकृष्ण ने सुझाया था। अतः इन्द्रिय-निग्रह के साथ भक्ति का भी आश्रय लेना पड़ा। इसी विचार से शाक्त लोग जगदम्बा की भक्ति निम्न प्रकार करते हैं—

"नमो देव्यै महा-देव्यै शिवायै सततं नमः। नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम् ॥"

यहाँ प्रकृति-स्वरूपा जगदम्बा के अनुग्रह की प्रार्थना की गई है। इन्द्रिय-निग्रह करके रावण ने त्रेता-युग में देवों और असुरों पर नियन्त्रण पाया, परन्तु जगदम्बा शिवा की भक्ति नहीं की। अतः जगदम्बा ने उसका वध कर डाला। इस तरह तप और ज्ञान के स्थान पर भक्ति का व्यापक प्रचार द्वापर में हुआ।

भक्ति-मार्ग से भी मानव को वाञ्छित शान्ति नहीं मिली। मानव तभी तृप्त होता है, जब उसके काय, मन और वाक् तीनों की तृप्ति होती है। 'तप' करने से केवल 'काय' अर्थात् शरीर की तृप्ति मिलती है। 'ज्ञान' के आश्रय से 'मन' सन्तुष्ट हो जाता है और 'भक्ति' से वाणी तृप्त हो जाती है परन्तु ये सब क्षणिक हैं। तीनों की एक साथ तृप्ति होने पर ही मानव को शान्ति मिलती है।

मानव सदा नौ रसों में से किसी-न-किसी एक रस को प्राप्त करता है और आनन्दित हो उठता है। उपनिषद् में कहा गया है कि—'**रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।**' नौ रस हैं—'**शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानका, बीभत्सादभुत-शान्ताश्च**'—इनमें शान्त रस ही श्रेष्ठ-तम है। अतएव सभी ग्रन्थों के पारायण के अन्त में 'शान्ति' की ही तीन बार प्रार्थना की जाती है—ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

इस '**शान्ति**' की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब आचार्य की कृपा से मानव '**शाक्त**' बनता है। जब मानव अपनी शक्ति को पहचान पाता है, तब उसे अतुलित आनन्द मिलता है। कलि-युग में यही एक मार्ग है कि सभी मानव '**शाक्त**' बनें। देश, काल, जाति, धर्म आदि सभी भेदों को भूलकर जगदम्बा के कृपा-पात्र बनना ही 'शाक्त' का एक-मात्र लक्ष्य है। उक्त उपनिषद्-वाक्य (तीसरा प्रमाण) उसी दिशा का निर्देश करता है।

'**अजा**'—जिसका जन्म न हो, '**एका**'—एक-मात्र प्रकाश-मय, '**लोहित-शुक्ल-कृष्णा**'—जगदम्बा के तीन रूप प्रखर हैं। यथार्थतः वह सहस्र-रूपा है, परन्तु साधकों पर अनुग्रह करने के लिए तीन रूपों को व्यक्त करती है।

'**लोहित**' अर्थात् अरुणा है—करुणा-तरङ्गिताक्षी है। '**लोहित**'-रूप के ध्यान से साधकों को इष्ट-सिद्धि मिल जाती है। '**शुक्ल**'—सफेद, श्वेत-रूपा के ध्यान से वाक्-सिद्धि मिलती है। साधक सभी शास्त्रों का पारङ्गत हो जाता है। '**कृष्ण**'—काला—काले रूप के ध्यान से अपने पिछले जन्मों के बारे में जानकारी मिल जाती है।

'**बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्**'—इस तरह जगदम्बा कई तरह की चित् और अचित् वस्तुओं का सर्जन करती रहती है लेकिन वह सदा सर्वदा 'सरूपा' अर्थात् समान-रूपा है। अर्थात् अपनी प्रजा के कृत्यों को देखती रहती है। वह परमाकाश में विराजमान है,—देहेन्द्रिय-गत गुणागुणों से जगदम्बा के प्रकाश में कोई लोप नहीं होता। 'गीता' में कहा है—'**यथा सर्व-गतं सौक्ष्म्यात् आकाशं नोपलिप्यते।**'

अतः जगदम्बा '**स-रूपा**' है अर्थात् सदा सर्वदा एक-रूपा और स्वयं-प्रकाशा है। इसी जगदम्बा के मनोविनोदार्थं दो चिद्-वस्तुएँ हैं—एक है जीव याने शव, दूसरा है ईश्वर याने शिव। दोनों जगदम्बा

के ही अधीन हैं। जोव को इसीलिए शव कहा गया है कि उसे अपनो जानकारी नहीं है। जो अपनी इन्द्रियों, वृत्तियों और व्यापारों पर नियन्त्रण नहीं कर पाता, वह पर-तन्त्र है, प्रकृति के गुणों को भोगने में रुचि लेने के कारण उसे जगदम्बा का अनुग्रह नहीं मिलता।

'अजो हि एक: जुषमाण: अनुशेते'—अर्थात् प्रकृति के लीला-विलास को अपना लीला-विलास मानकर इधर-उधर जो कुत्ते जैसा भटकता रहता है, उसे कोई तृप्ति नहीं मिलती, अत: वह दु:खी रहता है। वह नहीं जानता कि **'भोगः न भुक्ताः, वयमेव भुक्ताः'** अर्थात् हमने कुछ भोगा नहीं, भोगों ने हो हमको भोग लिया। अत: वह जोवित होने पर भी शव के समान है।

हमारे पितामह की दिव्य वाणी है कि प्रकृति के गुणों को भोगने के लिए आतुर हो जाना उसी तरह है, जैसे लोहे की छड़ी में छिड़के हुये शहद की दो-तीन बूंदों को अज्ञानी कुत्ते की तरह चाटने लगता है, फल-स्वरूप अपनी जीभ, दाँत और सभी ज्ञानेन्द्रियों को खो बैठता है।

'जहाति एनां भुक्त-भोगां अज: अन्य:'—अर्थात् ईश्वर-ज्ञानी शाक्त प्रकृति के माया-जाल को समझ लेता है। अत: **'नमः प्रकृत्यै भद्रायै'** इत्यादि प्रार्थना करते हुये प्रकृति से दूर रहता है, जिससे उसे जगदम्बा शिवा का अनुग्रह मिल जाता है।

'नाभेः ऊर्ध्वं नराकृतिः'—अब 'रहस्य-तन्त्र' के इस वाक्य को समझने का यत्न करें। 'गीता' में कहा है कि **'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्'** अर्थात प्रकृति और पुरुष दो भिन्न वस्तुएँ हैं। जब पुरुष प्रकृति के साथ सम्बन्ध जोड़ता है, तभी वह प्रकृति के गुणों के वशीभूत हो जाता है। सांख्य-शास्त्र में बताया है कि प्रकृति सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु वह अचेतन है अर्थात् उसकी अपनी दृष्टि नहीं है। अत: वह कुछ देख नहीं पाती। अपने बारे में जानने में वह असमर्थ है। इस असामर्थ्य के कारण वह रुष्ट है। किसी-न-किसी चेतन-वस्तु की प्राप्ति के लिए वह आतुर रहती है। यदि कोई चेतन वस्तु उसके पास आ जाए, तो उसे वह ग्रहण कर लेती है। प्रारम्भ में उसे सुख देने का दिखावा करती है किन्त अन्त में उस चेतन वस्तु का सर्वनाश करने के बाद ही आराम की साँस लेती है। अत: यह समझना है कि नाभि के नीचे प्रकृति-रूपी विषैला साँप है।

पुरुष तो चेतन है, सब कुछ देख सकता है, लेकिन किसी आश्रय के बिना वह कहीं भी जा नहीं सकता क्योंकि वह पंगु है! लँगड़ा होने के कारण अपने चलने के लिये वह प्रकृति का आश्रय प्राप्त करता है। प्रकृति के साथ जुड़ जाना कोई दोष नहीं है; परन्तु प्रकृति के गुणों को अपने ही गुण समझकर जब वह भोगने लगता है, तब उसकी चेतनता नष्ट हो जाती है। वह स्वयं अचेतन बन जाता है; सोचने-विचारने की शक्ति खो बैठता है।

'नाभेः ऊर्ध्वं नराकृतिः'—से यही ऊपर बताया अर्थ स्पष्ट होता है। जगदम्बा के नवार्ण-मन्त्र के न्यास में नाभि का ऊँचा स्थान है। शरीर के मध्य में होने पर भो ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता रुद्र, कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठाता ब्रह्मा को स्वयं माया-स्वरूपिणी जगन्माता सूत्र-धारिणी होकर संहार और सृष्टि में नियन्त्रित रखती हैं। स्वयं नारायणी बनकर नर-स्वरूप चेतन को मार्ग-दर्शन देती हैं। यदि जगन्माता मार्ग-दर्शन दें, तो साधक भी सफल हो जाता है।

निरीश्वर सांख्य-मत के अनुसार जीव तभी मोक्ष प्राप्त करता है, जब उसकी प्रकृति साम्यावस्था में होती है। शाक्तों के अनुसार भी वही उत्तम साधक माना जाता है, जो समझकर अपने व्यापारों में प्रवृत्त होता है। संयत वाणी का प्रयोग करता है, शरीर को स्थिर आसन में जमाकर ध्यान-मग्न हो जाता है। यह साम्यावस्था जगदम्बा की कृपा से ही मिल सकती है। (शेष पृष्ठ २१ पर)

'जन्म-पत्री' का उपयोग

पण्डित सतीशकुमार उपाध्याय, दलापुर, इलाहाबाद

सामान्यतः यह देखा गया है कि कुछ लोग 'जन्म-पत्री' (हॉरोस्कोप) बनवाने के बाद उसको बन्द करके रख देते हैं और उसका उपयोग शादी-ब्याह का अवसर आने पर ही करते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग किसी ज्योतिषी से भेंट होते ही जन्म-पत्री खोलकर अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करने में लग जाते हैं। दोनों ही प्रवृत्तियों के द्वारा 'जन्म-पत्री' का सम्यक् उपयोग नहीं हो पाता। आवश्यकता इस बात की है कि 'जन्म-पत्री' का उपयोग किस प्रकार किया जाय, इसे हम जानें और उससे लाभ उठायें।

मानव जीवन का उद्देश्य क्या है ? इसका उत्तर यदि हम भारतीय वाङ्मय का अध्ययन करें, तो स्पष्ट हो जाता है। भारतीय शास्त्रों में मानव जीवन के उद्देश्यों को **'पुरुषार्थ'** की संज्ञा दी गयी है। ये 'पुरुषार्थ' हैं—१ धर्म, २ अर्थ, ३ काम तथा ४ मोक्ष। इनकी प्राप्ति हेतु हमारे युग-द्रष्टा मनीषियों ने समयानुरूप विभिन्न ग्रन्थों की रचना की है और उनकी प्राप्ति का उपाय तन्त्र-शास्त्र में निहित है।

ज्योतिष तन्त्र-शास्त्र का ही एक अङ्ग है। ज्योतिष इष्ट (इष्ट-देव तथा इष्ट-काल) द्वारा प्रकाश दिखानेवाला साधन है। इससे विभिन्न पदार्थों द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म ऊर्मियों के निष्कर्षण द्वारा होनेवाले प्राकृतिक परिवर्तनों की सम्भाव्य सूचना मिलती है। इसलिये इसे षड्-वेदांगों में रखा गया है।

प्रकृति के परिवर्तन सूक्ष्म ऊर्मियों पर निर्भर हैं तथा सूक्ष्म ऊर्मियाँ चित्-शक्ति की महिमा-मयी लीला का परिणाम हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भगवती के सान्निध्य से यदि हम किसी प्रकार सूक्ष्म ऊर्मियों में परिवर्तन करने में सफल हो जायँ, तो इच्छित स्थूल घटित होता दिखायी दे सकता है। परिवर्तन के उपाय तन्त्र-शास्त्र से ज्ञात होते हैं और इसकी सम्भावनाओं का पता ज्योतिष द्वारा लगाया जा सकता है।

प्रश्न उठता है कि ज्योतिष-शास्त्र में इन सम्भावनाओं के प्रकटीकरण हेतु किन उपायों को प्रयोग में ले आना चाहिये ? इसके लिये फलित ज्योतिष में तीन प्रकरणों पर विशेष बल दिया गया है—

१ जन्म-पत्रिका, २ ग्रह-गोचर, ३ वर्ष-कुण्डली

१ जन्म-पत्रिका—यह किसी व्यक्ति के जन्म-सम्बन्धी इष्ट-काल, स्थान तथा दिवस और तिथि के आधार पर गणित-ज्योतिष द्वारा निर्मित ग्रह, नक्षत्र, राशियों तथा विभिन्न दशाओं का उस व्यक्ति के लिये सारणीयन है। इसे संक्षेप में जातक (सम्बन्धित व्यक्ति) के सम्पूर्ण जीवन का दर्पण कहा जा सकता है। इसमें तनु (शरीर), धन, सहज सुख, विद्या, रिपु, जाया (पत्नी), मृत्यु, भाग्य, कर्म, आय तथा मोक्ष-भावों, ग्रह-योगों, ग्रह-राशि-योगिनी तथा भाव-दशाओं एवं अष्टक-वर्ग-साधन द्वारा सम्पूर्ण जीवन में घटनेवाली घटनाओं का लेखा तथा दुर्घटनाओं से बचने के लिये समयानुरूप उपायों का वर्णन होता है।

आजकल अधिकांश जन्म-पत्रिकायें (कुण्डलियाँ) संक्षिप्त ही बनायी जाती हैं। इसके पीछे दो कारण हैं—(१) पहला दैवज्ञ की अल्पज्ञता, (२) दैवज्ञ द्वारा खर्च किये गये समय के अनुरूप पारिश्रमिक का अभाव।

२ **ग्रह-गोचर**—खगोल में ग्रह-गति के फल-स्वरूप विभिन्न राशियों-नक्षत्रों में पहुँचनेवाले ग्रह अपनी सूक्ष्म राशियों का प्रभाव जातक (व्यक्ति) के ऊपर डालते हैं। इस प्रभाव का अध्ययन जातक के जन्म-काल के ग्रहों की स्थिति के आधार पर शुभ या अशुभ दिखायी पड़ता है। सामान्य रूप से समाचार-पत्र-पत्रिकाओं में निकलनेवाला राशि-फल इसका उदाहरण है। परन्तु यह राशि-फल चन्द्रमा या सूर्य के आधार पर निकलता है, जबकि किसी जातक के लिये राशि-फल का आधार लग्न-समेत सभी ग्रहों तथा अष्टक-वर्ग का साधन है। ग्रह-गोचर का सम्बन्ध कार्य-सिद्धि से अधिक सम्बन्धित है। यदि किसी जातक के 'जन्म-पत्र' में अष्ट-वर्ग की गणना हुई है, तो कोई भी व्यक्ति पंचाङ्ग की सहायता से अपना दैनिक राशि-फल स्वतः निकाल सकता है। तांत्रिक मन्त्रों के प्रयोगादि कर्मों में इसकी बड़ी उपयोगिता है।

३ **वर्ष-कुण्डली**—यह सौर वर्ष के अनुसार नये वर्ष के प्रवेश समय इष्ट-काल द्वारा गणित ज्योतिष द्वारा निर्मित ग्रह, नक्षत्र, राशि, सहम, योग, मुन्था, तथा दशाओं का किसी जातक का वर्ष भर के लिये सारणीयन है। वर्ष-कुण्डली के निर्माण के लिये जन्म-कालिक सूर्य स्पष्ट तथा निवास-स्थान के नाम की दैवज्ञ को आवश्यकता होती है। इस कुण्डली में जन्म-स्थान के सापेक्ष कार्य-स्थान पर तात्कालिक ग्रह-प्रभाव तथा राशि-प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा अच्छे ढंग से समझ सकते हैं।

मान लीजिये किसी जातक (व्यक्ति) की जन्म-पत्रिका के अनुसार अच्छी ग्रह-दशा चल रही है, समय अनुकूल है, परन्तु वर्ष में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसका क्या कारण है? यदि जातक की वर्ष-कुण्डली बनी होती, तो समय उचित उपाय द्वारा अच्छा बिताया जा सकता था। शास्त्र का वचन है—

एवं समस्त-भावानां सूतौ नाथाश्च पोषकाः। अब्दे नष्ट-बलास्तेषां नाशयोह्या विचक्षणे॥

अर्थात् जिस मनुष्य के जन्म-काल में सब भावों के स्वामी फल देने में समर्थ हों, यदि वे ही वर्ष-काल में बल-हीन हों, तो उस मनुष्य के अपने उन भावों को नष्ट कर देते हैं। अर्थात् उन भावों का जैसा फल है, उसको नहीं प्रदान करते। कहने का तात्पर्य यह कि जन्म-काल का कारक ग्रह भी वर्ष-कुण्डली के आधार पर अकारक हो जाता है।

अतः प्रत्येक जातक को नव वर्ष आरम्भ होने के पूर्व किसी दैवज्ञ द्वारा वर्ष-कुण्डली निर्मित करवा कर वर्ष-गाँठ के समय, जैसा कि 'चण्डी' वर्ष ४५ (२०४३) अङ्क १-२ में "वर्ष-गाँठ कब और कैसे मनायें" लेख में उल्लिखित है, विशिष्ट पूजन में ग्रहों की शान्ति तथा मुन्था-दानादिक कृत्य करके आनेवाली गृह-जनित परेशानियों को कम करने पर तथा वर्ष में शुभ समय में अधिक परिश्रम करके अन्य पुरुषार्थों की प्राप्ति के उपायों पर ध्यान देना चाहिये। ज्योतिष-शास्त्र मात्र किसी घटना की या फल-प्राप्ति की सम्भावना व्यक्त करता है। इसकी कमी या अधिकता स्वतः के कर्म के ऊपर निर्भर है।

(पृष्ठ १९ का शेषांश)

साम्यावस्था में मन, वाणी, काय को लाने के लिये नाभि-चक्र में ध्यान लगाना आवश्यक है। यह बात शाक्त, शैव, वैष्णव, कौमार, सौर, गाणपत्य सभी मानते हैं। अतः **'नाभेः ऊर्ध्वं नराकृतिः'** सूत्र से अश्विनी-देवताओं की व्यापकता की भी पुष्टि होती है। जगन्माता के श्रोत्र-द्वय के रूप में अश्विनी-देवताओं की स्थिति मानी गयी है—'कर्णौ यस्य तु चाऽश्विनौ'।

प्रणव-माहात्म्य एवं नाद-साधन

श्री शिवचरण लाल महावीरप्रसाद चौरसिया, नागपुर (महाराष्ट्र)

शास्त्रों में ऐसा आया है कि एक समय परमेश्वर सदाशिव ने भगवती अपर्णा को ॐ का महत्व बताते हुये कहा कि जो देवता अथवा मानव मेरे इस प्रणव अर्थात् ॐ शब्द का अर्थ ज्ञात कर लेता है, वही मेरे मूल-स्वरूप का ज्ञाता कहलाता है। यह प्रणवात्मक मन्त्र संसार के समस्त मन्त्रों का बीज है। यही बीज वट-वृक्ष के समान स्थूल, वेद का आदि, वेद का सार तथा साक्षात् मेरा ही स्वरूप है। यह ॐ तीन गुणों सत्व, रज और तम से भी परे है। यही सर्वज्ञ और सबका कर्त्ता है। यह प्रणव एकाक्षर मन्त्र है, जिसमें मैं सदा विद्यमान रहता हूँ। सृष्टि की समस्त वस्तुएँ गुण-मयी हैं। इस एकाक्षर मन्त्र में ब्रह्म और समस्त कामनाओं को सिद्ध करने का सामर्थ्य विद्यमान है। इसी प्रणव से सृष्टि की रचना हुई है और प्रलय के अन्त में सभी कुछ इसी में लय हो जाता है। यह समस्त मन्त्रों का शिरोमणि है। पञ्च-रूप प्रणव अर्थात् १ अकार, २ उकार, ३ मकार, ४ चन्द्राकार अर्ध-मात्रा तथा ५ सानुनासिक अनुस्वार में से अकार के आश्रित 'निवृत्ति-कला', उकार में 'इन्धन-कला', मकार में 'काल', नाद में 'दण्ड' तथा बिन्दु में 'ईश्वर' कला का उद्धार होता है। अकार के रजो-गुण से ब्रह्मा, उकार के सत्व-गुण से पालन-कर्त्ता विष्णु तथा मकार पुरुष-बीज के तमो-गुण से संहार-कर्त्ता रुद्र उत्पन्न होते हैं। तिरोधान-काल में परमेश्वर सदा-शिव ही नाद-रूप महेश्वर हो जाते हैं।

ॐ मन्त्र का जप प्रारम्भ करने के पूर्व नाद-रूप शिव का ध्यान करते हुए मूर्धा-स्थान के ऊर्ध्व सहस्र-दल-कमल में परमेश्वर सदा-शिव का ध्यान करने से परमेश्वर की प्राप्ति होती है क्योंकि ये शिव परमेश्वर से परे और मङ्गल-रूप हैं। यही शिव सर्वज्ञ, सत्य के जनक, सर्वेश, निर्मल, अविनाशी, अद्वैत और पर-ब्रह्म हैं। वे ही अकार की अपेक्षा में सर्व-व्यापक और उकार, मकार के नीचे के भाग में व्याप्त हैं। इस प्रकार अकारादि पाँच वर्णों में ब्रह्म के स्वरूप को देखें। सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान—ये क्रमशः परमेश्वर के ही रूप हैं।

वैष्णव मतानुसार अकार, उकार और मकार इन तीन मात्राओं का विराट् स्वरूप नीचे लिखे अनुसार है :—

मात्रा	देवता	देव	लोक	छन्द	वर्ण	अवस्था	स्थान
अ	ब्रह्मा	अग्नि	भूमि	गायत्री	रक्त	जागृत	भूमि
उ	विष्णु	वायु	अन्तरिक्ष	त्रिष्टुप्	शुक्ल	स्वप्न	अन्तरिक्ष
म	महेश	सूर्य	द्यौ	जगती	कृष्ण	सुषुप्ति	स्वर्ग
१	२	३	४	५	६	७	८

मात्रा	स्वर	वेद	अग्नि	काल	गुण	कर्म
अ	उदात्त	ऋग्वेद	गार्हपत्य	प्रातः	सत्व	सृष्टि
उ	अनुदात्त	यजुर्वेद	दक्षिणाग्नि	मध्यान्ह	रज	स्थिति
म	स्वरित	सामवेद	आवहनीय	संध्या	तम	लय
	९	१०	११	१२	१३	१४

ॐ का प्रथम रूप अकार से व्यक्त होता है। उससे सूक्ष्म उकार तथा उकार से भी सूक्ष्म मकार है। इन तीनों से परे योगी को एक ऐसे सूक्ष्म ध्वन्याभ्यास का अनुभव होता है, जो किसी भी रूप में मानव की भाषा में व्यक्त नहीं होता। इसी को चन्द्राकार अर्द्ध-मात्रा कहते हैं। तदनन्तर नाद अपने उत्पत्ति-स्थान अन्तरिक्ष में लय हो जाता है।

नादानुसन्धान, रूपानुसन्धान, स्वरूपानुसन्धान, वह्नि-शिखानुसन्धान, दीप-शिखानुसन्धान, त्राटक क्रिया, शाम्भवी-मुद्रा, खेचरी-मुद्रा, उन्मनी-मुद्रा, मन्त्र-जप, श्रवण, नाम-संकीर्तन, इष्ट-देवता-स्मरण, अर्चन, वन्दन, भक्ति-योग, धारणा, ध्यान तथा विविध प्रकार की उपासना के द्वारा मन को एकाग्र कर इष्ट-देवता को ॐ स्वरूप तथा स्वयं में लय करने के सर्व-सुलभ साधन हैं।

मन को एकाग्र कर इष्ट-देवता में लय करने के असंख्य मार्गों में से 'नादानुसन्धान' एक सर्व-श्रेष्ठ साधन है। मन को किसी प्रकार का कष्ट न देते हुये तथा मन को प्रसन्न रखते हुये नाद उसे अपने आप में लय कर लेता है। स्वयं ब्रह्म-स्वरूप होने के कारण नाद में लीन हुआ मन सरलता से ब्रह्म-लीन हो जाता है। ऐसी अवस्था में मन अलग नहीं रहता बल्कि वह स्वयं भी ब्रह्म में पूर्ण रूप से लय हो जाता है। मन की इस लय अवस्था को उन्मनी-भाव कहते हैं। उन्मनी-भाव में आनन्द का पूर्ण अनुभव और ब्रह्म का साक्षात्कार होता रहता है। नादानुसन्धान-साधना के द्वारा प्राप्त मन की एकाग्रता से पूर्णानन्द का साक्षात्कार एवं अनुभव बिना किसी असुविधा के हो जाता है। इस तथ्य की पुष्टि करते हुए भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने स्व-रचित 'योग-तारावली' में कहा है—

"नादानुसन्धान - समानाधिमेकं मन्यामहे मान्य - तमं लय - नाम।"

अर्थात् अन्य साधनों की अपेक्षा नादानुसन्धान से प्राप्त होनेवाली मन की एकाग्रता अति श्रेष्ठ है।

नाद के अनुसन्धान से नाद में लय हुये मन को नाद के अन्तर्गत तैजस ब्रह्म चैतन्य-स्वरूप आत्म-प्रकाश का साक्षात्कार होता रहता है। आत्म-रूप नाद में तथा उस नाद में साधक का मन चिर-काल तक लीन रहता है। वह जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त हो जाता है और उसे इस मायावी संसार के बन्धन में पुनः वापस नहीं आना पड़ता। नादानुसन्धान की यह द्वितीय महिमा है। आहत नाद के अनुसन्धान से सिद्ध की हुई मन की स्थिरता तुरन्त आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार करा देती है। जिस साधक को मन की एकाग्रता प्राप्त करने एवं मन को ब्रह्म में लीन करने के विविध प्रकार के साधनों का ज्ञान नहीं है, ऐसे साधक के लिये नादानुसन्धान का यह मार्ग अत्यन्त सुलभ है।

'नद' का अर्थ है शब्द करना, प्रतिध्वनित होना या गरजना। इसी 'नद' से 'नाद' शब्द की उत्पत्ति हुई है। जो प्रतिध्वनित होता है, गरजता है या शब्द-रूप में व्यक्त होता है, उसी को 'नाद' कहते हैं। 'नाद' और 'निनाद' ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। 'नाद' शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए मतङ्ग मुनि ने कहा है—**'नद्यते इति नादः'**। 'नाद' शब्द का नकार प्राण-वायु का द्योतक है तथा दकार मानव शरीर में विद्यमान कायाग्नि का वाचक है। अग्नि और वायु के परस्पर संयुक्तीकरण से नाद-तत्त्व प्रकट होता है।

पूर्व-जन्मों के संस्कार के प्रभाव से आत्मा में सङ्कल्प का स्फुरण होता है। तब मन को प्रेरणा प्राप्त होती है। कायाग्नि पर मन का प्रहार होता है, जिससे कायाग्नि मूलाधार-चक्र में ब्रह्म-ग्रन्थि का आश्रय लकर वायु पर प्रहार करती है। कायाग्नि के प्रहार से प्रवाहित होनेवाली प्राण-वायु मूलाधार-

चक्र में ऊर्ध्वगामी हो जाती है, जिससे मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपुर में स्पन्दन प्रारम्भ हो जाता है। इस स्पन्दन में नाद-तत्त्व को अभिव्यक्त करने का बीज रहता है। सूक्ष्म नाद-लहरों के साथ प्राण-वायु हृदय में प्रवेश करती है, जहाँ उसे नाद का रूप प्राप्त हो जाता है। हृदय-स्थित अनाहत चक्र में नाद के स्पष्ट होने से भी इस नाद की ध्वनि बाह्य जगत् में प्रकट नहीं होती। जिस साधक को गुरु-कृपा, ईश्वर-कृपा तथा पूर्व-जन्म के संस्कार अथवा वर्तमान जन्म में किये गए योगाभ्यास का पूर्ण सहयोग प्राप्त है, वही इस नाद को स्पष्ट रूप से सुन सकता है।

नाद ब्रह्म-स्वरूप होने के कारण अविनाशी है अर्थात् उसकी उत्पत्ति एवं लय का प्रश्न ही नहीं उठता। इस संसार में व्याप्त तेजस्तत्त्व ईंधन के रूप में दृष्टि-गोचर होनेवाली लकड़ी में रहता है। यह अग्नि-तत्व ज्वालाग्नि-स्वरूप में प्रकट हो जाती है। उसी प्रकार नाद भी ब्रह्म-ग्रन्थि या ब्रह्म-स्थान में प्राण-वायु और कायाग्नि के संघर्षण से अभिव्यक्त होता रहता है। परा और पश्यन्ती इन दो अवस्थाओं से ऊपर अनाहत-चक्र में आ जाने के उपरान्त नाद का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है। अनाहत-चक्र में धीरे-धीरे वही नाद ऊर्ध्व-गामी हो जाता है और अन्त में मूर्धा - स्थान में स्थित सहस्र-दल-कमल के महाकाश में व्याप्त हो जाता है। इसी नियमानुसार यह नाद साधक के अन्दर-ही-अन्दर अभिव्यक्त होता है और व्याप्त हो जाता है। इसी से इसे **'अनाहत नाद'** कहते हैं।

नाद-लहरों से युक्त प्राण-वायु जब शरीर के विशुद्धि चक्र (कण्ठ-स्थान) में आ जाती है, तब उसे वैखरी-स्वरूप प्राप्त हो जाता है। वहाँ से कण्ठ, तालु, दाँत, ओष्ठ और मूर्धा की सहायता से जब नाद प्रकट होता है, तब उसे **"आहत नाद"** कहते हैं। इसी नाद को उपाधि-भेद से भिन्न-भिन्न वर्णों का स्वरूप प्राप्त होता है। इन वर्णों के समूह को 'शब्द' या कोई विशेष अर्थ रखनेवाला शब्द-समूह कहते हैं। तदनन्तर शब्द-समूह को वाक्य का स्वरूप प्राप्त हो जाता है। ये वाक्य ही संसार में वार्तालाप के साधन हैं। इसी तथ्य का वर्णन निम्न श्लोक में किया गया है—

"नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्, पदाद वचः वचसो व्यवहारोऽयं, नादाधीनमतो जगत्।"

गाणपत्य-अनुयायी ॐ के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि अपने तत्त्व-ज्ञान के प्रमाण से ॐ कार ही सृष्टि का आदि कारण है। यह अव्यक्त पर-ब्रह्म का प्रथम व्यक्त स्वरूप है। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म से सर्व-प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश का विशुद्ध स्वरूप अथवा तन्मात्रा शब्द होने के कारण ॐ कार है। इसी कारण ब्रह्म अथवा परमेश्वर में ॐ कार से परस्पर वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध है। आज की भाषा के अनुसार तत्तत् पदार्थ के वाचक शब्दों का उनके अर्थों से होनेवाले सम्बन्ध के समान यह ॐ केवल सांकेतिक अथवा मनुष्य-कृत नहीं है अपितु स्वयम्भू-सम्बन्ध है। ॐकार और परमेश्वर के सम्बन्ध को दृष्टि-गत रखकर भगवान् पतञ्जलि ने ईश्वर की उपासना करते समय उसे किस नाम का उच्चारण करना चाहिए अथवा उस समय किस शब्द का जप करना चाहिए, इसका स्पष्टीकरण योग-सूत्र के निम्न सूत्रों में करते हुए कहा है—**'ईश्वर प्रणिधानाद्वा तस्य वाचकः प्रणवः'** (१/२३।२७) तथा **'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्'** (१।२८)।

ॐ नाद-मय तथा ईश्वर चैतन्य शक्ति-स्वरूप है। भगवान् पतञ्जलि ने उनके जिस परस्पर वाच्य-वाचक-सम्बन्ध का वर्णन किया है, उसका उचित अर्थ समझ लेना परम आवश्यक है। शब्दों के अर्थ तीन प्रकार के हैं—१ वाच्यार्थ, २ लक्ष्यार्थ, ३ व्यंग्यार्थ। इन तीन प्रकार के अर्थों से होनेवाले वाच्य-वाचक, लक्ष्य-लक्षक और व्यंग्य-व्यंग्यक सम्बन्धों से सभी लोग परिचित हैं, परन्तु इससे अलग भी इस प्रकार के शब्द का अर्थ से सम्बन्ध है, जो स्वयम्भू अथवा नैसर्गिक सम्बन्ध है। लौकिक वाणी के शब्दों के

अर्थों से इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। केवल मन्त्र-मयी वाणी के अर्थों के साथ ऐसा सम्बन्ध होता है। इसी कारण लौकिक भाषा पर आधारित व्याकरण, मीमांसा, साहित्य इत्यादि शास्त्रों में उपर्युक्त तीन प्रकार के सम्बन्धों का वर्णन उपलब्ध होता है क्योंकि यह स्वयम्भू-सम्बन्ध उन शास्त्रों का विषय नहीं है। वेदान्तों, मन्त्र-शास्त्रों और योग-शास्त्रों में इस स्वयम्भू-सम्बन्ध का निर्देश स्थान-स्थान पर उपलब्ध है। यह स्वयंभू-सम्बन्ध अर्थात् उत्पादक-उत्पाद्य-भाव का सम्बन्ध है।

उपनिषदों का कथन है कि इस व्यक्त सृष्टि का घटक (मध्यस्थ) द्रव्य आकाश है। अव्यक्त का प्रथम प्राकट्य आकाश के रूप में हुआ। इस सम्बन्ध में तैतरीय उपनिषद् के २/१/१ में कहा गया है—**'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'**। आकाश का विशुद्ध स्वरूप तन्मात्रा है। हिन्दू तत्त्व-ज्ञान के अनुसार आकाश की तन्मात्रा शब्द अर्थात् नाद है। आकाश से ही समस्त व्यक्त सृष्टि का आविर्भाव हुआ। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि नाद से ही सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण हुआ है। श्रीमद्भागवत में अत्यधिक सूक्ष्म विधि से शब्द अर्थात् नाद का क्रम-वार वर्णन किया गया है। इसके अनुसार परमेश्वर से नाद अर्थात् शब्द, शब्द से आकाश, आकाश से स्पर्श, स्पर्श से वायु, वायु से रूप, रूप से तेज, तेज से रस, रस से जल, जल से गन्ध और गन्ध से पृथ्वी—इस क्रम से सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई।

उपर्युक्त प्रत्येक व्यक्तीकरण की प्रक्रिया में सृष्टि का आदि घटक द्रव्य अर्थात् शब्द नाद से समावेशित है। तात्पर्य यह है कि नाद ही विश्व का आदि घटक द्रव्य है क्योंकि अपनी श्रवणेन्द्रिय को योग की प्रक्रिया से शुद्ध करके इस विश्व-रूप नाद को सुनने का प्रयास करने से ॐ कार जैसा ही सुनाई देता है। नाद या शब्द के आदि घटक द्रव्य होने से विश्व का उत्पाद्य-उत्पादक भाव-सम्बन्ध सिद्ध होता है। विश्व पदार्थों के पृथक्-पृथक् मूल घटक द्रव्य होने से उनके उच्चारण की ठीक-ठीक प्रक्रिया ज्ञात होने पर उक्त उच्चारण के अनुरूप पदार्थ दिखाई देने लगेगा। उन समस्त शब्दों को ध्वनि-लहर का पुञ्ज भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार ॐकार ही विश्व का मूल कारण है और विश्व के जितने भी पदार्थ हैं, वे वस्तुतः ध्वनि-लहरी की सृष्टि हैं। इसी ध्वनि-लहरी को 'वेद' कहते हैं। वेद अनन्त हैं। वेद के सामर्थ्य का जो उपयोग नहीं कर सकता, उसका वेदाध्ययन व्यर्थ है। इसी बात का उल्लेख करते हुए ऋग्वेद (१/६४/३९) में कहा है—**किमृचा करिष्यति**।

उत्पादक ध्वनि-लहरी और उससे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ का सम्बन्ध न तो वाच्यार्थ, न लक्ष्यार्थ और न व्यंग्यार्थ ही है। अपितु स्वर्ण और उसके अलङ्कार में जैसा स्वयम्भू एवं नैसर्गिक सम्बन्ध है, वैसा ही वह सम्बन्ध है। इसी से श्री तुकाराम महाराज ने ॐ कार को कल्पों का बीज अर्थात् विश्व-सृष्टि का मूल कारण कहा है। ॐ कार और ईश्वर के इस सम्बन्ध को दृष्टि में रखकर ही उसे ईश्वर-वाचक बताया है। श्रीमद्भागवत (१/३/५) में ॐ कार को ईश्वर के समान ही उपास्य कहा गया है—**एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्, यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देव-तिर्यङ्-नरादयः**।

अर्थात् ॐ कार नाना अवतारों का निधान (अकार) अविनाशी बीज है, जिसके अंशांश से देवता, पशु-पक्षी और मनुष्यादि की सृष्टि होती है।

श्रीगणपत्यथर्वशीर्ष में कहा है कि ॐकार का ही व्यक्त स्वरूप श्री गणेशजी हैं। सब प्रकार के मंगल कार्यों और देवता-प्रतिष्ठापन के आरम्भ में श्री गणेशजी की पूजा करने का कारण यही है कि जिस प्रकार प्रत्येक मंत्र के आरम्भ में ॐ कार का उच्चारण आवश्यक है, उसी प्रकार प्रत्येक शुभावसर पर श्री गणेशजी की पूजा अनिवार्य है। यह परम्परा शास्त्रीय एवं सनातन है।

फा० ४

महा-कवि कालिदास ने 'चिद्-गगन-चन्द्रिका' में श्री गणेशजी के आविर्भाव के सम्बन्ध में कहा है—

क्षीरोदं पौर्णमासो - शशधर इव यः प्रस्फुरन्निस्तरङ्गम्,
चिद्-व्योम-स्फार-रुचि-विसर-लसद-विन्दु-वक्रोर्मि - यालम् ।
आद्य-स्पन्द-स्वरूपः प्रथयति सकृदोंकार-शुण्ड क्रिया दृग ।
दन्त्यास्योऽयं हठाद् वः शमयतु दुरितं शक्ति-जन्मा गणेशः ।।

अर्थात् जिस प्रकार पूर्णिमा का चन्द्रमा शान्त तरङ्गवाले क्षीर-सागर को ऐसा क्षुब्ध कर देता है कि उसमें गर्जन के साथ गगन-चुम्बी उर्मि-मालाएँ उठने लगती हैं, उसी प्रकार जो पूर्णतः प्रकाशमान हो एक बार निस्तरंग चिदाकाश में प्रणव के नाद-तत्व को फैलाकर बिन्दु-तत्त्व की वक्र लहरों को उद्वेलित कर देता है, जो शब्द-ब्रह्म का आदि स्पन्दन-रूप है, ॐ कार जिसका शुण्ड-दण्ड है तथा जो सम्पूर्ण क्रियाओं का द्रष्टा (साक्षी) है, वह शक्ति-नन्दन गज-मुख गणेश हठात् सबके पाप-तापों का शमन करें ।

उक्त श्लोक में शब्द-ब्रह्म-रूप ॐ का आविर्भाव बताया गया है और ॐ से श्रीगणेश जा की मूर्ति की रचना की गई है, जो इस प्रकार है—प्रथम भाग उदर, मध्य शुण्डाकार दण्ड, ऊपरी अर्ध-चन्द्र दन्त तथा अनुस्वार मोदक ।

इस प्रकार प्रणव का वर्णन बड़ा विशद है । यहाँ मात्र संकेत-सार तथा अंश-मात्र का विवरण दिया गया है । ज्ञानी-जन स्वयं इसका अनुभव करें ।

'चण्डी' की पुरानी फाइलें

'चण्डी' पत्रिका की पुरानी फाइलों में वर्ष ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५ के बारहों अङ्कों की सजिल्द फाइलों की कुछ प्रतियाँ शेष हैं । इन आठ फाइलों में शाक्त-धर्म - सम्बन्धी कितना अनूठा साहित्य संग्रहीत है, यह आप इस बात से सहज हो अनुमान कर सकते हैं कि शीघ्र ही ये फाइलें अप्राप्य हो जायेंगी, किसी भी मूल्य पर न मिलेंगी ।

वर्ष ३८	४५)	**वर्ष ४२**	६०)
वर्ष ३९	४५)	**वर्ष ४३**	६०)
वर्ष ४०	४५)	**वर्ष ४४**	६०)
वर्ष ४१	४५)	**वर्ष ४५**	३०)

'चण्डी' के ४६ वें वर्ष के सदस्यों के लिये ९०-०० रु० को छूट देने पर सम्पूर्ण सेट का रियायती मूल्य ३००) रु० है; रजिस्ट्री डाक-व्यय बीस रु० । इस प्रकार कुल ३२०-०० रु० अग्रिम मनीआर्डर/ बैंकड्राफ्ट द्वारा भेजकर सम्पूर्ण सेट रजिस्ट्री द्वारा मँगाया जा सकता है । बहुत कम प्रतियाँ शेष हैं । अतः शीघ्र-से-शीघ्र अपनी प्रति मँगा लें । ड्राफ्ट **'कौल कल्पतरु चण्डी, इलाहाबाद'** के नाम भेजें ।

पूज्य-पाद गुरु-वर्य श्री यज्ञानन्दनाथ जी महाराज

पण्डित बेनीमाधव त्रिपाठी, दत्त मन्दिर रोड, मालाड (पूर्व), बम्बई

चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमभि-सन्धाय भुवनं, स्थितस्तत्तत्-सिद्धि-प्रसव-पर-तन्त्रैः पशु-पतिः ।
पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिल - पुरुषार्थैक - घटना, स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षिति - तलमवातीतरदिदम् ॥

सौन्दर्य-लहरी के उक्त श्लोक के अनुसार भगवान् भूत-भावन ने तो चौंसठ तन्त्रों का निर्माण कर विश्व को उनके चक्कर में डाल दिया और आप 'श्री' की महा-विद्योपासना को गुप्त ही रखा। हे जगन्माँ ! आपने ही विश्व-कल्याणार्थ उस गुप्त उपासना को प्रकट कराया, क्योंकि आप करुणा-मयी जो हैं। इस चतुर्वर्ग-फल-प्रदायिनी उपासना को सुहृज्जनों तक पहुँचाने का कार्य, भगवान् शिव स्वयं ही सद्-गुरु-रूप में करते हैं। उन्हीं सद्-गुरुओं की श्रृङ्खला में एक विभूति थे श्रीयज्ञानन्दनाथ जी महाराज। आपका सांसारिक नाम था श्री वासुदेव जी दवे। आपका जन्म सन् १६०४ में करवा चौथ के दिन अहमदाबाद (गुजरात) में हुआ था।

आपके पिता श्री गणपतराम जी दवे (दीक्षा-नाम श्रीविमर्शानन्द नाथ) श्रीविद्या के साथ-साथ आद्या (महा-काली) के एक महान् उपासक थे। आपका जीवन प्राचीन काल के ऋषियों की भाँति था। आप गुजरात के 'भास्कर' कहे जाते थे। आपको बहुत सी उपाधियाँ मिली थीं, जिनमें 'वेद-मार्तण्ड', 'याज्ञिक-चिन्तामणि' एवं 'तान्त्रिक-शिरोमणि' उल्लेखनीय हैं। अपने घर पर ही गुरु-कुल का अनुकरण करते हुए विद्यार्थियों को निःशुल्क संस्कृत पढ़ाते थे। भावनगर के 'श्री श्रीविद्या-सपर्या-मण्डल' के संस्थापक आप ही थे।

पूज्य-पाद श्रीयज्ञानन्दनाथ जी महाराज के कुल में श्रीविद्योपासना कई पीढ़ियों से लगातार चली आ रही है। उसी परम्परा में आप स्वयं तेरहवें पुरुष थे। सन् १६२६ में आप बम्बई आए और एम० ए०, एल-एल० बी० करने के बाद बम्बई हाईकोर्ट में वकालत करने लगे और थोड़े ही समय में एक सफल वकील हो गये। वकालत में मन न लगने के कारण आपने व्यापार शुरू किया और बहुत जल्दी ही एक ख्याति-प्राप्त व्यापारी बन गये। तत्कालीन रंग के व्यापार में आप बम्बई में कपड़ों के रंग के एकमात्र मुख्य वितरक थे, जो आयात और निर्यात भी करते थे। अपने पिताश्री की मृत्यु के पश्चात् सन् १६५६ से आप सांसारिकता त्याग कर पूर्ण रूप से 'माँ' की सेवा ही में लग गये तथा पूर्ण-शिवत्व प्राप्त कर दिनाङ्क ४-६-१६८० को मणिपुर-वासी हो गए।

पुष्कर (राजस्थान) क्षेत्र के संन्यासी एवं प्रसिद्ध महात्मा पूज्य-पाद श्री त्रिविक्रम तीर्थ स्वामी से पूर्ण कौल की दीक्षा प्राप्त कर उन्हीं के सान्निध्य में आपने इष्ट-मन्त्र के पुरश्चरण भी किए। उसी पुरश्चरण-काल की बात है कि एक दिन, रात्रि के समय लगभग डेढ़ बजे, जब आप मन्त्र-जप कर रहे थे, तो श्वेत-वस्त्र में लिपटा हुआ एक शव आकाश-मार्ग से आकर आपके सामने वीभत्स-रूप में प्रकट हो गया। आपने तुरन्त ही पञ्च-पात्र को बजाकर घण्टी की तरह ध्वनि उत्पन्न की और आँखें बन्द कर लीं। ध्वनि सुनकर आपके गुरु जी, जो उसी मकान में सोए हुए थे, दौड़े हुए आए और बोले, 'वासुदेव जी, क्या बात है ? मैं आ गया हूँ।' आँखें खोलने पर आपके सम्मुख श्री गुरु जी खड़े थे और पहले का दृश्य,

अदृश्य था। स्वामी जी ने बताया कि मन्त्र-सिद्धि-काल में ऐसी बातें हो जाया करती हैं। श्री श्रीविद्या की पूर्ण दीक्षा आपने पूना (महाराष्ट्र) के पूज्यवर श्री सीताराम जी भट्ट से ली थी, जो श्रीविद्या के अनन्यतम उपासकों में से थे।

मन्त्र-शास्त्र एवं श्री श्रीविद्योपासना में आप अद्वितीय जाने-माने व्यक्ति थे। देवी-स्वरूपा "श्री आनन्दमयी मां" भी आपको 'बाबा' कह कर सम्बोधित करती थीं। द्वारका-पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य श्री अभिनव सच्चिदानन्द जी महाराज ने आपको 'तन्त्र - महोदधि' की उपाधि से भूषित किया था। अपने जीवन-काल में आपने बहुत से यज्ञ किये, जिनमें श्रीगायत्री-महा-यज्ञ, श्रीविष्णु-महा-यज्ञ, चौंसठ कोटि अन्न-कूट यज्ञ, सहस्र-चण्डी-यज्ञ, श्रीललिताम्बा-महा-यज्ञ एवं श्रीललिता-त्रिशक्ति-महा-यज्ञ विशेष उल्लेखनीय हैं। आप श्री देवीभागवत पर प्रवचन भी करते थे। अशक्य कार्यों को भी शक्य करने के लिये, दो या अधिक मन्त्रों का समन्वय करना तथा अभीष्ट-सिद्धि के लिये उपयुक्त प्रयोग करने तथा कराने में आप सिद्ध-हस्त थे।

आपकी पत्नी श्रीमती चन्द्रकान्ता (मां नित्याम्बा) का आपकी साधना-सिद्धि में विशेष सहयोग रहा है। घर-गृहस्थी का सब कार्य माता जी ही देखती थीं, इसलिये पूज्य गुरु जी घर में रहते हुये भी विरक्त ही थे। माता जी अति ही विदुषी एवं महिला होने के साथ-साथ मन्त्र-साधना में भी आगे बढ़ी हुई थीं। उनके हाथ में स्फटिक-माला एवं ओठों पर मन्त्रोच्चारण सदैव विराजमान रहते थे।

प्रसिद्ध शक्ति-पीठ श्री अम्बा जी (आरासुर, गुजरात) में श्री श्री-यन्त्र की स्थापना पूज्य श्री गुरु जी महाराज के कर-कमलों द्वारा हुई थी। उक्त पीठ अत्यन्त जागृत स्थान है। यहाँ पर सती का हृदय गिरा था। द्वारका-पुरी के प्रसिद्ध श्री रुक्मिणी-मन्दिर में भी श्री श्री-यन्त्र की स्थापना श्री गुरु जी ने किया था। जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीशारदा-पीठाधीश्वर की उपस्थिति में, सौराष्ट्र के हलवत् नामक स्थान पर श्री सुन्दरी भवानी के मन्दिर में, श्री श्रीयन्त्र एवं मूर्ति की स्थापना एवं प्राण-प्रतिष्ठा आपके द्वारा की गई थी। यही नहीं, बम्बई महानगर के प्रसिद्ध मुम्बा देवी के मन्दिर में भी श्री श्री-यन्त्र की स्थापना सन् १९६२ में पूज्य श्री गुरु जी ने ही की थी। इस मन्दिर में पुजारी वही होता था, जो श्री गुरु जी से दीक्षा लेता था और जिसे आप योग्य पुजारी घोषित करते थे।

गुरुजी अत्यन्त सहृदय महानुभाव थे। दीनों की सहायता आप नित्य-प्रति ही करते थे। बम्बई एवं बम्बई के बाहर भी सहायतार्थ द्रव्य-वस्त्र आदि कितनों को भेजे जाते थे। आपकी शरण में जो भी आया, वह सुखी हो गया। मैं स्वयं अपनी आँखों से देख चुका हूँ कि कितने लोग, जो जीवन से निराश हो चुके थे और आत्म-हत्या तक करने को तैयार थे, पूज्य गुरु जी के पास पहुंच कर सुखी हो गये और आज समाज में प्रतिष्ठा के साथ बड़े-बड़े व्यापार-धन्धे एवं सरकारी नौकरियाँ कर रहे हैं।

कई राजा-महाराजा आपके शिष्य थे, जिनमें महाराजा दाता नरेश (अम्बा जी गुजरात), महाराज सानन्द दरबार सौराष्ट्र, महाराज मानस दरबार, मानसा स्टेट, गुजरात आदि उल्लेखनीय हैं। अभिनय-कला में प्रवीण शम्मीबेन आदि के अतिरिक्त प्रसिद्ध अभिनेत्री नरगिस दत्त भी आपकी शिष्या थीं। चल-चित्र-संगीत निर्देशक श्री राजकमल आपके ही शिष्य हैं। व्यापारियों में सेठ धरमदास (महा-लक्ष्मी मिल के मालिक), बाबू भाई हरजीवनदास (कपड़े के व्यापारी), सेठ वृन्दावनदास (रंग के व्यापारी), अफ्रीका में प्रसिद्ध भारतीय उद्योग-पति श्रीमती सुनयना बेन तथा अहमदाबाद के उस समय के बैरोनेट श्री चिमनभाई आदि आपके शिष्यों में से थे तथा विदेशियों में एक अमेरिकी व्यक्ति उल्लेखनीय है जिनका दीक्षोपरान्त "श्री हरिप्रकाशानन्दनाथ" नाम हो गया था।

आप एक महान् परन्तु अतीव गुप्त साधक थे। आपके घर के सदस्य तथा अति निकट रहने-वाले शिष्य-गण भी आपको नहीं समझ सके। आप अन्तर्याग के कुशल साधक, कुण्डलिनी-साधना के मर्मज्ञ थे तथा आपको वाक्-सिद्धि प्राप्त थी। मुझे स्वयं का अनुभव है कि पूज्य गुरु जी के मुख से यदि कभी कुछ निकल गया, तो वह होकर ही रहता था।

पूज्य गुरुजी के अन्तिम दिनों की बात है। एक दिन मैं श्री गुरु जी के समक्ष बैठा था। गुरु जी ने कहा, 'बेनी बाबू ! मेरा अन्तिम समय चल रहा है। अब मेरा कुछ भरोसा नहीं है। जो कुछ सीखने की लालसा हो, सीख लो।' मुझे अजीब सा लगा कि पूज्य गुरु जी ऐसा क्यों कह रहे हैं। मैंने उत्तर दिया कि 'गुरु जी ! मुझे तो मालूम नहीं है कि मुझे अभी क्या सीखना है। आपने मुझे ये चीजें बताई हैं (और जो मन्त्रादि मुझे बताये थे, मैंने उन्हें याद दिलाया)। इनके अतिरिक्त यदि आप कुछ आवश्यक समझें, तो बता दें।' गुरु जी हँस पड़े और बोले कि 'अगले रविवार को आ जाओ।' अगले रविवार को आपने एक मन्त्र विशेष मुझे दिया। इसके दस दिन बाद मुझे अपने जन्म-स्थान प्रतापगढ़ (उत्तर प्रदेश) जाना था। श्री गुरु जी ने कहा कि 'जल्दी चले आना, अधिक समय मत लगाना', परन्तु घर-गृहस्थी के जंजाल से मुझे अपनी छुट्टी एक महीना बढ़ानी पड़ी। जिस दिन बम्बई पहुँचा, उसी दिन पूज्यपाद श्री गुरु जी महाराज मणिपुर-वासी हो गए।

मैं स्वयं को बड़ा भाग्य-शाली समझता हूँ कि गुरु जी के अन्तिम दर्शन कर सका एवं उनकी शव-यात्रा में सम्मिलित होकर अन्तिम संस्कार में भाग ले सका। वास्तव में आपको ज्ञात हो गया था कि अब चले जाएँगे। अपनी मृत्यु के पन्द्रह दिन पहले से ही आपने सभी से मिलना-जुलना बिल्कुल बन्द कर दिया था एवं सारा समय केवल 'माँ' के ध्यान में ही लगाते थे।

आज संसार में पूज्य गुरु जी नहीं हैं लेकिन आपकी महती कृपा का अनुभव मैं आज भी करता हूँ। कभी-कभी तो स्वप्न में भी आकर दर्शन देते एवं मार्ग-दर्शन करते हैं। ऐसे शिव-स्वरूप पूज्य गुरुवर को शत-शत प्रणाम। आपके सुपुत्र श्री प्रियानन्दनाथ जी (श्री शशांक वासुदेव दवे) आपके ही 'पथ' पर चलते हुये श्री श्रीविद्योपासना में अग्रसर हो रहे हैं। माँ से प्रार्थना है कि ये भी शक्ति-साधनाकाश में जाज्वल्यमान नक्षत्र की भाँति प्रकाशित हों।

नए प्रकाशन

१	परमानन्द तन्त्रम् : मूल मात्र, सौभाग्यानन्द-सन्दोह संस्कृत टीका	८६)
२	नित्या-षोडशिकार्णव : मूल-मात्र, ऋजु-विमर्शिनी एवं अर्थ-रत्नावली टीका	८६)
३	हिन्दी मन्त्र-महार्णव : देव-खण्ड १४०), देवी-खण्ड १४०), मिश्र-खण्ड	८०)
४	वृहत् तन्त्रसार : मूल मात्र, संस्कृत में	१००)
५	हनुमत् उपासना : सङ्कलन-कर्त्ता—श्री राधारमण दुर्वार	१५)
६	आनन्द-लहरी एवं भवानी अष्टक (हिन्दी टीका सहित)	५)
७	आगमोक्त योग-साधना (नवीन संस्करण)	४)
८	श्री त्रिपुरा महोपनिषद् (हिन्दी टीका सहित)	५)
९	अघोरी का उपदेश (नवीन संस्करण)	३)

ब्रह्म-लीन स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती वचनामृत

श्री गुरु

पण्डित महावीरप्रसाद शर्मा, हावड़ा (वङ्ग प्रदेश)

मूलावृत्तिर्गकारस्य रकारो मूर्द्धनि स्थितः, ओष्ठ-द्वयेन सम्पाद्य मर्द्धाधः शक्ति-मेलनम् ।
'ग'कारो मूलमाकृष्य सहस्रार-रसं रतः, हृदयं पाययेत् स्फूर्त्तं श्रीमद्-गुरुरुदेत्युतः ॥

'ग'कार जिह्वा-मूल में है, अतः मूलावृत्ति (यथा मूलाधार में जाग्रति) की सूचना देता है। इसी प्रकार 'र'कार ऊर्ध्वावृत्ति (ऊर्ध्वावस्थित केन्द्र-समूह) का सूचक है। 'गुरु'—शब्द में दो 'उ'कार (ओष्ठ-द्वय) हैं। ये क्या करते हैं ? ये चित्-शक्तियों का सम्मिलन कराते हैं।

श्रीगुरुदेव 'उ'कार-द्वय के द्वारा उज्ज्वल स्वरूप में उदित होते हैं। किस निमित्त ? 'ग'कार से मूलाधार में निद्रिता कुण्डली-शक्ति का आकर्षण करके 'र'कार द्वारा सहस्रार के सुधा-रस का दोहन करने के लिए। इस रस-सन्दोह-दोहन का उद्देश्य क्या है ? प्रस्फुटित हृदय-कमल उस रस का भरपूर पान कर सके, यही उद्देश्य है। अतएव 'श्रीगुरु' शब्द का उच्चारण कर रस-हीन हृदय-पद्म को ऊर्ध्व-धाम के सुधा-रस का पान कराओ।

सहस्र-पाद-गुरोरंघ्रिर्व्याप्नुवन्नपि सर्वतः, श्रद्धा-रूपा हि या आवस्तास्वेव कमलायते ।

सहस्र-पाद् श्रीगुरुदेव के चरण-कमल सर्वत्र ही व्याप्त हैं, तथापि साधक शिष्य के श्रद्धा-रूपी सरावर में ही वे सर्व-व्यापी चरण-कमल सरोज-रूप से विकसित होते हैं।

कर्णिकांघ्रि-सरोजस्य ह्यहेतुक-कृपा-घना, अहेतुकी कृपा या सा भव-हेतुं जिहीर्षति ।
सर्वत्र गामिनी नित्या निरपेक्षा त्वहेतुकी, कृपा चापेक्षते पात्रमकार्पण्यमकैतवम् ।
सर्वतोऽपि रवेरंशौ पतिते स्फटिकादिषु, औज्ज्वल्यं स्वात्य-मेघाम्बु शुक्ति-गर्भं च मौक्तिकम् ।
आदावात्म-कृपोन्मेषात् कार्पण्यं कैतवं जहि, गुरु-कृपा-लवोन्मेषाच्छ्रद्धा-वान् याहि पात्रताम् ।
सेवनं मृदु-पात्रस्यादासेवनं च मध्यमे, संसेवनमुत्तमेऽपि चाधि-मात्रे निषेवनम् ।

श्री गुरुदेव के चरण-कमल-रूपी सरोज की जो कर्णिका है, वह अहैतुकी कृपा से भरपूर है। अहैतुकी कृपा कैसी ? जो कृपा इस अनादि भव-बन्धन के हेतु (कारण) को ही दूर करने की इच्छा करती है, वही 'अहैतुकी' कहलाती है। इस मूल अविद्या-रूपी हेतु को जो हटा दे, उसका स्वयं भी 'अहैतुक' होना आवश्यक है क्योंकि किसी एक 'हेतु-शृङ्खला' द्वारा अन्य 'हेतु-शृङ्खला' का नाश नहीं हो सकता।

भव-हेतु-विमोचिनी जो कृपा है, वह यद्यपि सर्वत्र पहुँचनेवाली, नित्य रहनेवाली और हेतु-रहिता है, तथापि वह अनूठी कृपा अपने लीला-विलास से एक-मात्र अपेक्षा भी रखती है—किसी एक ऐसे पात्र व्यक्ति की, जो कृपण न हो और छल-रहित हो। ऐसा पात्र व्यक्ति ही उसकी लीला का सह-भागी हो सकता है। उदाहरण के लिए—

सूर्य की किरणें यद्यपि बिना किसी पक्षपात के सर्वत्र विद्यमान रहती हैं, तथापि स्फटिक आदि में ही उन किरणों का उज्ज्वल प्रकाश भासित हो पाता है। इसी प्रकार स्वाती नक्षत्र में बादलों से जल की बूँदें सभी स्थानों पर गिरती हैं किन्तु जो बूँदें शुक्ति (सीप) के कोष (गर्भ) में पहुँचती हैं, वे ही मोती बनती हैं, अन्यत्र वे मात्र जल-रूप में ही दिखाई देती हैं। (शेष पृष्ठ ३१ के नीचे)

चतुःश्लोकी कालिका-स्तवेन्द्रम्

कल्प-द्रुम-वने रम्ये, रत्न-सिंहासनोपरि, उमाया सहितो देवमपृच्छन् नन्दिकेश्वरः ।।

नन्दिकेश्वर उवाच

देव-देव, जगन्नाथ ! पृच्छामि परमेश्वर, केन काम्य-करो बुद्धि प्रकाशयति निश्चितम् ।।

श्रीशिव उवाच

श्रृणु वत्स, महा-प्राज्ञ ! गुह्यात् गुह्य-तरं महत् । चतुःश्लोकीति विख्यातं, वदामि ध्यान-पूर्वकम् ।।
कालिकायाः चतुश्लोकी-पठनात् सिद्धि-सत्तमा । निशार्धे वा दिनार्धे वा श्मशाने वा तज्जापकः ।।
अणिमादिमवाप्नोति, शत्रु - नाशश्च जायते । देवताः वशमायान्ति, किं पुनर्मानवादयः ।।

विनियोगः—ॐ अस्य श्रीचतुःश्लोकी-स्तवेन्द्रस्य श्रीमहा-काल-भैरव ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । क्रीं बीजं । हूं शक्तिः । क्लीं कीलकं । श्रीश्मशान-कालिका देवता । अभीष्ट-सिद्धयर्थे जपे विनियोगः ।

वामे कर्ण-शशिश्च दक्षिणे रविर्गण्ड-स्थले कुण्डलं, तारा-मौक्तिक-कंठ-हार-सुभगे केचित् प्रसूना इव ।
व्याल-कुंजर-कालिकाक्ष-पटगे स्कन्धौ च विभाजिते, दंष्ट्रा-काल-कराल-चर्चित-जगत् श्रीकालिकायै नमः ।।
हस्ते दक्षिण-पान-पात्र-रुचिरं ब्रह्मा कपाली-कृतं, वामे पाद-तले सुचर्चित - नरान् देवारि-दैत्यादिकान् ।
ब्रह्माण्डोदर-कूर्म-मध्ये च मधु-पानाय मत्ता सदा, प्रेतारूढ़ा महाट्टहास-सहिता श्रीकालिकायै नमः ।।
चामुण्डे कर चण्ड-मुण्ड-गृहीतं ब्रह्मा कपाली-कृतम्, खट्वांगाभिहतारि-वर्ग-निचये नीता दिवं यद्रुषा ।
ऊर्ध्व-केश-कृशानु-मद्-भय-करां भीमाति-मांस-स्वसां, चर्वत्यस्थिर-पुंस-सैन्यमसुरां श्रीकालिकायै नमः ।।
दिव्याभूषण-भूषितां स्वर-धरां सिन्दूर-धरां परां, उन्मत्तां मद-रक्त-पान-निरतां मुण्डावली-राजिताम् ।
व्यालाभूषण-भूषितां स्तन-रुचिं नीलाघनां राजितां, नित्यं भक्ति-वर-प्रदां निरतां च श्रीकालिकायै नमः ।।

य इमां पठते नित्यं चतुःश्लोकी तु स्तवेन्द्रं । वांछितार्थं प्रपद्यन्ते कविर्भवति निश्चितम् ।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां, नवम्यां ग्रहणेषु च । भौमवारे पठेत् यस्तु, जीवन्मुक्तो न संशयः ।।
इदं रहस्यं परमं गोपनीयं प्रयत्नतः । देयं शिष्याय नाभक्ताय कदाचन ।।

।। श्रीकुलाचार-चन्द्रोदये चतुःश्लोकी-स्तवेन्द्रं सम्पूर्णम् ।। (श्री पं० कृष्णानन्द वैद्य द्वारा प्रेषित)

(पृष्ठ ३० का शेषांश)

यही कारण है कि आरम्भ में आत्म-कृपा का उन्मेष होने पर साधक में 'शुभेच्छा' उत्पन्न होती है । फिर सत्सङ्ग आदि के द्वारा उसे अपनी कृपणता और छल-बुद्धि से यथा-सम्भव छुटकारा पाना होता है । तभी गुरु-कृपा का उन्मेष होकर साधक 'श्रद्धा-वान्' पात्र बनता है । ऐसा पात्र बनने पर ही 'भव-हेतु-हारिणी' परमा इष्ट-देवता की कृपा मिलती है । इसी से उसे 'कृपा-त्रयी' कहा गया है—

१ आत्म-कृपा, २ गुरु-कृपा, ३ इष्ट-कृपा—ये तीनों एक ही अहैतुकी कृपा की तीन मूर्तियाँ हैं।

पात्र चार प्रकार का होता है—१ मृदु, २ मध्य, ३ उत्तम और ४ अधिमात्र । 'मृदु' भूमिका में सेवन, 'मध्य' में आसेवन, 'उत्तम' में संसेवन और 'अधिमात्र' (ऐकान्तिक प्रपत्ति) में निषेवन का विधान है । श्रद्धा-पूर्वक कार्य करना 'सेवन', निष्ठा-पूर्वक धारण करना 'आसेवन', प्रेम-पूर्वक रत रहना 'संसेवन' और एकाग्र होकर विश्वासपूर्वक रहना 'निषेवन' कहलाता है ।

उक्त 'कृपा-त्रयी' को पूर्ण रूप से प्राप्त करने का उपाय क्या है ? गुरु-बीज, गुरु द्वारा प्रदत्त बीज और 'जय गुरो, श्रीगुरो !' का निरन्तर घोष—ये ही तीन 'वज्र'-उपाय हैं ।

भारत के महान् साधक एवं साधिकाएँ

[९ सजिल्द भागों में]

श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य की **'भारतेर साधक'** नामक पुस्तक बङ्गला भाषा की एक सु-प्रसिद्ध रचना है। इसमें ऐसे महा-पुरुषों की जीवन-चर्या और उपदेशों का वर्णन है, जो भारत-वर्ष के आध्यात्मिक जगत् के अनूठे रत्न थे। बङ्गला भाषा में इस ग्रन्थ का अपूर्व स्वागत हुआ था।

नौ सजिल्द भागों में इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी संस्करण अब प्रकाशित हो गया है। **पहले भाग में**—१ श्री तैलंग स्वामी, २ योगी श्यामाचरण लाहिड़ी, ३ श्री भोलानन्द गिरि, ४ शङ्कराचार्य, ५ भक्त दादू, ६ योगीवर गम्भीरनाथ जी, ७ वामाक्षेपा जैसे महापुरुषों से सम्बन्धित विवरण है। **दूसरे भाग में**—८ श्री अरविन्द, ९ सन्तदास बाबाजी, १० श्री मधुसूदन सरस्वती, ११ आचार्य रामानुज, १२ रामदास काठिया बाबा, १३ स्वामी भास्करानन्द सरस्वती का वर्णन है। **तीसरे भाग में**—१४ गौतम बुद्ध, १५ श्री लोकनाथ ब्रह्मचारी, १६ श्री भगवान दास बाबा जी, १७ बालानन्द ब्रह्मचारी, १८ हंस बाबा अवधूत, १९ स्वामी निगमानन्द, २० प्रभु श्रीजगद्बन्धु का वर्णन है। **चौथे भाग में**—२१ भक्त कबीर, २२ नंगा बाबा, २३ श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी, २४ भक्त लाला बाबू, २५ गोस्वामी श्यामानन्द, २६ हरिहर बाबा, २७ महात्मा सुन्दरनाथ जी, २८ फरसी बाबा, २९ मौनी दिगम्बर जी, ३० साईं बाबा का वर्णन है। **पाँचवें भाग में**—३१ नरसी मेहता, ३२ गोस्वामी तुलसीदास, ३३ राजा रामकृष्ण, ३४ काष्ठ-जिह्वा स्वामी, ३५ महायोगी गोरखनाथ का वर्णन है। **छठे भाग में**—३६ योगीश्वर श्री कालीपद गुहराय की लीलाओं का वर्णन है। **सातवें भाग में**—३७ आचार्य मध्व, ३८ सनातन गोस्वामी, ३९ समर्थ रामदास, ४० एकनाथ स्वामी, ४१ तिब्बती बाबा, ४२ विशुद्धानन्द सरस्वती, ४३ गोस्वामी विजय कृष्ण का वर्णन है। **आठवें भाग में**—४४ श्री रामकृष्ण परमहंस, ४५ गुरु अंगद, ४६ चरणदास बाबा जी, ४७ महर्षि रमण, ४८ सिद्ध जयकृष्ण दास, ४९ साधक कमलाकान्त का वर्णन है। **नवाँ खण्ड**—भारत की महान् साधिकाओं का है। इसमें—१ अंडाल रंगनायकी, २ कृष्ण-मयी मीरा, ३ माता ज्ञानानन्द सरस्वती, ४ देवी शारदामणि, ५ यशोदा माई, ६ गौरी माँ का वर्णन है।

इस प्रकार हिन्दी भाषा के पाठकों के लिये यह संग्रह बहुत उपयोगी है, इसमें सन्देह नहीं।

खण्ड १,२, ३, ६, ७ का मूल्य पच्चीस रु० प्रति है। खण्ड ४, ५ का बीस रु० प्रति। खण्ड ८, ९ का मूल्य ३० रु० प्रति है। सम्पूर्ण ९ खण्डों का मूल्य २२५-०० रु० है। मनीआर्डर/बैंकड्राफ्ट द्वारा २२५ रु० भेजने पर ग्रन्थ के ९ भाग रजिस्ट्री द्वारा भेजे जाएँगे। मनीआर्डर/ड्राफ्ट भेजने का पता—

कल्याण मन्दिर प्रकाशन, अलोपीबाग मार्ग, इलाहाबाद—२११००६

ज्योतिष-भाव-दर्शन

(कुण्डली के बारह भावों पर अनुभूत योग)

लेखक : महर्षि डॉ० हरिकृष्ण छँगाणी, ज्योतिषाचार्य

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम चार प्रकरणों में ज्योतिष का प्रारम्भिक ज्ञान दिया गया है, जिससे ज्योतिष के नवीन शिक्षार्थी भी ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त कर सकें। पञ्चम से षोडश प्रकरण जन्म-कुण्डली के बारह भावों से सम्बन्धित ३० अनुभूत योग यथा—स्वास्थ्य, व्यवसाय, धन-सम्पत्ति, विदेश-यात्रा, भ्रातृ-सुख, मकान, सवारी, मातृ-सुख, मानसिक-शान्ति, शिक्षा, सन्तान, रोग, शत्रु, वैवाहिक जीवन, आयु के सम्बन्ध में सरल भाषा में सोदाहरण दिए गए हैं। मूल्य १५-०० 'चण्डी' सदस्यों के लिये १२)।

श्री ललिता-विजयम्

पूज्य श्री १००८ श्री स्वामी अद्वयानन्द जी सरस्वती, श्रीछायापीठं त्रिची, (तमिलनाडु)

[मार्च ८७ और अप्रेल ८७ के आगे का अंश]

शिष्य इन बातों को बड़े ध्यान से सुन रहा था। वह उठा और गुरुदेव के समक्ष साष्टाङ्ग प्रणाम कर उसने निवेदन किया, 'गुरुदेव, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अगस्त्य मुनि को ये सब आशीर्वाद केवल उनकी उच्च शक्तिवाली पत्नी लोपामुद्रा के ही कारण मिले। उन्हें इस प्रकार की महत्तावाली पत्नी कैसे मिल गई ? कृपा करके मुझे यह बताने का कष्ट करें।'

अगस्त्य मुनि को उच्च शक्तिवाली पत्नी लोपा मुद्रा कैसे मिलीं ?

गुरुदेव प्रसन्न हो उठे और उत्तर में कहने लगे—'अगस्त्य मुनि एक कठोर ब्रह्मचारी थे। उन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया था और घोर तपस्या कर रहे थे। एक दिन हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में देखा कि एक वृक्ष की डालियों से नीचे सिर लटकाए हुये अनेक ऋषि दुःखपूर्वक कठिन तपस्या कर रहे हैं। उन्हें देखकर अगस्त्य मुनि ने उनसे पूछा—'हे ऋषियों, आप लोग कौन हैं ?' ऋषियों ने उत्तर दिया—'पहले हमें बतायें कि आप कौन हैं, तब हम अपने बारे में बताएँगे।' अगस्त्य ने कहा—'मैं एक यज्ञ में रखे कुम्भ-कलश से मित्रावरुण के स्वरूप से उत्पन्न हुआ हूँ। लोग मुझे अगस्त्य और कुम्भ मुनि कहते हैं। मैंने आपके सम्बन्ध में इसलिये पूछा है क्योंकि आपके इस कठिन तप का कारण मेरी समझ में नहीं आ रहा है। आपके कष्ट को देखकर मुझे बड़ा दुःख है।'

ऋषियों ने समझाया—'हे अगस्त्य ! हम तुम्हारे पूर्वज पितर लोग हैं। हमारे वंश में उत्पन्न तुम्हें प्रारब्ध के अनुसार विवाह कर पुत्र उत्पन्न करना था और परिवार का दायित्व वहन करना था किन्तु ऐसा न कर तुमने अपनी शक्तियों से इन्द्रियों को सर्वथा जीत लिया और विवाह न कर तपस्या में लगे हुये हो। फलतः, हमें उस उपेक्षित प्रारब्ध का फल भोगने के लिये वृक्ष पर इस प्रकार सिर नीचे लटका कर कष्ट सहना पड़ रहा है।'

यह सुनकर अगस्त्य ऋषि ने उन पितरों को श्रद्धा के साथ प्रणाम किया और कहा—हे मेरे वंशीय पितृ-गण ! मैं आपके इस कष्ट को सह नहीं सकता। मैं शीघ्र ही विवाह करूँगा। आप कृपया इस कठिन तप को छोड़ दें और अपने लोक को जायँ।'

इस पर उन पितरों ने अगस्त्य को एक आदर्श पत्नी के साथ सुख-मय जीवन बिताने का आशीर्वाद दिया और वे पितृ-लोक को चले गये।

उस दिन से अगस्त्य अपने लिये एक अति सुन्दरी, सर्व-गुण-सम्पन्ना और सर्वथा सच्चरित्रा पत्नी की खोज में लग गए। उनका लक्ष्य यह था कि ऐसी सुलक्षणा पत्नी के मिलने से उनकी तपस्या को और भी बल मिलेगा, उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी। ऐसी पत्नी की खोज में वे चौदहों लोकों में घूम आये और एक स्थान से दूसरे स्थान घूमते ही रहे। अपने इस व्यापक पर्यटन में उन्होंने ब्रह्म-लोक में ब्रह्म-पुत्री को देखा और वह उन्हें अपनी अभीष्ट आदर्श पत्नी के अनुरूप जान पड़ी।

तदनुसार अगस्त्य ने ब्रह्मा जी से अपना मनोरथ बताया और प्रार्थना की कि 'यदि आप अपनी पुत्री को भू-लोक के तपस्वी राजा कावेर को दे दें, तो मैं कन्या का - दान में उसे उनसे प्राप्त कर लूंगा।' ब्रह्मा जी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

कुछ दिनों बाद अगस्त्य तपस्वी राजा कावेर के पास पहुँचे, जो सन्तान के उद्देश्य से कठिन तपस्या कर रहे थे। अगस्त्य मुनि ने उन्हें एक पुत्री होने का वरदान इस शर्त पर दिया कि वे उसका विवाह अगस्त्य से कर देंगे। राजा के स्वीकृति देने पर अगस्त्य ने अपने तपोबल से मन्त्रों द्वारा ब्रह्म-लोक से शुद्ध माया को एक बच्ची के रूप में भू-लोक पर आकृष्ट किया और उसे राजा कावेर की गोद में पहुँचा दिया।

उस बच्ची की अपूर्व सुन्दरता को देखने के लिये दूर-दूर से लोग आने लगे। ऋषि-मुनि और देवता तक उसकी छवि की प्रशंसा करने लगे। उसका नाम रखा गया 'लोपा-मुद्रा'। दिन-दिन वह रूप-सौन्दर्य, बुद्धि-प्रतिभा और व्यवहार-चातुर्य में चन्द्र-कला के समान विकसित होने लगी। तीन वर्ष की ही आयु में वह पढ़ने लगी, जिसे देखकर सभी चकित हो उठे। उसके उच्चारण की शुद्धता और सीखने की क्षमता से आकृष्ट होकर एक ऋषि ने स्वयं ही आकर उसे वेद, वेदाङ्गों और सभी शास्त्रों में दीक्षित किया। १२ वर्ष की आयु के पहले ही लोपामुद्रा सभी कलाओं में प्रवीण हो गई और कोई उसकी समता नहीं कर सकता था।

लोपामुद्रा और ऋषि चर्यानाथ की कृपा

लोपामुद्रा जब आठ वर्ष की थी, तब की बात है। एक दिन ऋषि चर्यानाथ राज-महल में आए। राजा ने उनका यथोचित स्वागत-सम्मान किया। लोपामुद्रा अपने शिक्षक के साथ चर्यानाथ के दर्शनार्थ आई। बचपन से ही लोपामुद्रा को गुरु-पादुका की पूजा अपने हाथों से करने का अभ्यास था ही। अतः उसने शास्त्रोक्त विधि के अनुसार चर्यानाथ की सभी प्रकार पूजा की। चर्यानाथ उसकी सेवाओं से बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने राजा को सूचित किया कि 'मैं महल में कुछ दिनों तक ठहरना चाहता हूँ।'

एक सुन्दर पुष्पोद्यान में अभिनव मण्डप बनवाया गया और चर्यानाथ वहाँ तप करने लगे। लोपामुद्रा बड़ी कुशलतापूर्वक वहाँ सारी देख-भाल रखती, जैसे मण्डप के बाहर और भीतर सर्वत्र सदा स्वच्छता बनाए रखना, आसनों को सदैव ठीक दशा में रखना, स्वयं अपने को स्नानादि से पवित्र रखना, देवी-पूजा के लिये कुश-तृण, पुष्प, तीर्थ आदि लाना और उन्हें निर्दिष्ट समय पर प्रस्तुत करना, देवी के लिये नैवेद्य बनाना, चर्यानाथ की शारीरिक सुख-सुविधा का ध्यान रखना—ये सभी कार्य वह बिना किसी त्रुटि के बहुत ही सुचारु रूप में बराबर सम्पन्न करती रही। इससे चर्यानाथ परम सन्तुष्ट और प्रसन्न हुये।

एक सप्ताह में ही चर्यानाथ लोपामुद्रा की अभूतपूर्व सेवा-कौशल से इतने सन्तुष्ट हो गये कि उस अल्पायु में ही उसे श्रीविद्या के महा-मन्त्र में, जो तीनों लोकों में दुर्लभ है, दीक्षित कर दिया। साथ ही उसे पराम्बा-पूजा की विधि भी सिखाई और कुछ दिनों तक रहकर उसे जप, ध्यान, पूजन आदि करते देखते भी रहे। अन्त में उससे बहुत प्रसन्न होकर उसे श्रीललिताम्बिका की पूर्ण कृपा पाने का आशीर्वाद दिया और तब चर्यानाथ वहाँ से चल दिये।

लोपामुद्रा पराम्बा की उपासना निरन्तर करती रही। साथ ही अपने शिक्षक से अन्य बातें भी सीखती रही। १२ वर्ष की होते-होते, उसने सभी विद्याओं को सीख लिया। पराम्बा की कृपा से उसे सिद्धियाँ भी मिल गईं। यह देखकर शिक्षक ने उसे आशीर्वाद दिया और राजा से अनुमति लेकर वे अपने स्थान को चले गये। १३ वर्ष की होने पर लोपामुद्रा चौदहो भुवनों की कुमारियों में एक रत्न के समान चमकने लगी। ऐसा कोई राजा या देवता नहीं था, जो लोपामुद्रा से विवाह करने का इच्छुक न

हो परन्तु वे सभी अगस्त्य ऋषि से डरते थे। अन्त में वह शुभ दिन आ पहुँचा, जब अगस्त्य जी पधारे और राजा ने विवाह द्वारा उन्हें लोपामुद्रा को सौंप दिया।

जैसा कि पहले बताया है, किशोरावस्था में ही लोपामुद्रा ने अपनी सेवा से चर्यानाथ को सब प्रकार से सन्तुष्ट और सुखी बनाया था तथा उनसे दुर्लभ मन्त्र प्राप्त किया था। ऐसी महिमावाली लोपामुद्रा को पत्नी-रूप में पाकर मुनि अगस्त्य सभी के द्वारा प्रशंसित हुये।

यह कथा सुनाकर गुरुदेव ने शिष्य को आगे का प्रसङ्ग बताना प्रारम्भ किया।

अगले दिन अगस्त्य ऋषि पूर्व-वत् प्रातःकृत्य समाप्त कर हयग्रीव के स्थान पर गये और उनकी अनुकूलता देखकर उनके निकट पहुँचकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। तब उनके पास बैठकर उन्होंने निवेदन किया—'भगवन्, कल आपने मूल-प्रकृति और उसके अङ्गभूत २४ आत्म-तत्त्वों को समझाया था। कृपया उसके आगे बतायें।'

२५ वाँ सोपान—'माया'

यह सुनकर, हयग्रीव ने कहा—'माया'-तत्व २५ वाँ सोपान है। माया जीव को ठगती है। भूतादि अहङ्कार से निकलनेवाले आणव मल द्वारा, जो अहङ्कार की शक्ति है, आवृत होकर जीव अपने सच्चे स्वरूप को नहीं समझ पाता कि वह शुद्ध आत्मन् है। अर्थात् इसके प्रभाव से जीव यह समझता है कि प्रकृति से उद्भूत तत्त्व वास्तविक ही हैं और वह भौतिक तथा सूक्ष्म शरीरों की सन्तुष्टि करने के प्रयासों में तन्मय हो जाता है। इसी भ्रामक शक्ति के कारण इसे 'माया' कहते हैं।

२६ वाँ सोपान—'पुरुष'-तत्त्व

पुरुष-तत्त्व २६ वाँ सोपान है। आगे वर्णित पाँच विद्या-तत्वों से संयुक्त जीव ही रुचि-अरुचिवाला बनकर 'पुरुष'-तत्त्व कहलाता है।

२७ वाँ सोपान—'राग'-तत्त्व

राग-तत्त्व २७ वाँ सोपान है। यही 'राग' जीव में इच्छा उत्पन्न करता है। जीव वस्तुतः आत्मा का ही प्रति-बिम्ब है, उससे अभिन्न है और इच्छा, सांसारिक ज्ञान और क्रिया से रहित है तथा उसका स्वरूप शुद्ध आत्मा के समान ही शुद्ध ज्ञान है। केवल इसी 'राग'-तत्व के द्वारा जीव इच्छा-शक्ति वाला बन जाता है।

२८ वाँ सोपान—'विद्या'-तत्त्व

विद्या-तत्त्व २८ वाँ सोपान है। इसके द्वारा आत्मा से अभिन्न जीव में सांसारिक ज्ञान अर्थात् सीमित ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी के द्वारा जीव ज्ञान-शक्तिवाला बनता है। इस विद्या-तत्व से ही राग-तत्व का उद्भव होता है।

२९ वाँ सोपान—'कला'-तत्त्व

'कला'-तत्त्व २९ वाँ सोपान है। अभिन्न जीव में इसके द्वारा क्रिया-शक्ति आती है इसी 'कला'-तत्त्व से २८ वें सोपान 'विद्या'-तत्त्व और २४ वें सोपान 'मूल प्रकृति' का उद्भव होता है।

३० वाँ सोपान—'नियति'-तत्त्व

'नियति'-तत्त्व ३० वाँ सोपान है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने द्वारा किये अच्छे या बुरे कर्मों का फल भोग करता है।

३१ वाँ सोपान—'काल' (समय)-तत्त्व

इस तत्त्व के द्वारा जीव अपने कर्मों का फल एक साथ न भोग कर क्रमशः एक के बाद एक कर्म का फल-भोग समयानुसार करता है।

काल (समय), नियति और कला—ये तीन तत्व अशुद्ध माया के प्रतिफल हैं। अशुद्ध माया से इन तत्वों का उद्भव होने पर ही उसका शेषांश माया-तत्व को प्रकट करता है, जो पुरुष को मोहित करता है।

ये सात तत्त्व—१ काल, २ नियति, ३ कला, ४ विद्या, ५ राग, ६ पुरुष और ७ माया—'विद्या-तत्व', 'मिश्र तत्व', 'अशुद्ध माया तत्व' और 'अन्तःकरण' नामों से जाने जाते हैं।

१ काल, २ नियति, ३ कला, ४ विद्या और ५ राग—ये पाँच तत्व 'पञ्च-कंचुक' नाम से प्रसिद्ध हैं।

१ पञ्च-भूत, २ तन्मात्राएँ (सूक्ष्म गुण), ३ ज्ञानेन्द्रियाँ, ४ कर्मेन्द्रियाँ, ५ अन्तःकरण, ६ मूल-प्रकृति, ७ माया और ८ पञ्च-कंचुक—ये आठ 'पुर्यष्टक', 'परा-देह' और 'सूक्ष्म देह' नामों से ज्ञात हैं।

पञ्च-भूतों से बना स्थूल शरीर आँखों द्वारा देखा जा सकता है। उपर्युक्त सभी अशुद्ध माया हैं और 'सकल'-श्रेणी के जीवों के शरीरों के बोधक हैं। अशुद्ध माया ही ऊपर वर्णित ३६ तत्वों की स्रोत है। इसे 'अधो-माया', 'माया' और 'मोहिनी' नाम से कहा गया है।

३२-३६ वें सोपान (पाँच)—'शुद्ध-तत्व' अथवा 'शिव-तत्व'

'शुद्ध-विद्या'-तत्व ३२ वाँ सोपान है। ईश्वर, शिव, विष्णु आदि ललिता ब्रह्म के प्रतिबिम्ब ही हैं। उनका स्वरूप मात्र ज्ञान है और वे अभिन्न हैं। वे अपनी ज्ञान-शक्ति शुद्ध-विद्या-तत्त्व से प्राप्त करते हैं और उसी से सम्बद्ध होकर वे सर्वज्ञ होते हैं। इस तत्व को स्थूल 'ईश्वर-तत्त्व', 'स्थूल अधिकार-तत्त्व', 'स्थूल प्रकृति-तत्व' और 'स्थूल सकल तत्त्व' भी कहते हैं।

३३ वें 'ईश्वर'-तत्व से सम्बद्ध होकर शिव, विष्णु आदि ईश्वर, जो ललिता ब्रह्म के प्रतिबिम्ब हैं, अपनी क्रिया-शक्ति को प्राप्त कर सर्वज्ञ होते हैं। इस तत्व को 'सूक्ष्म अधिकार-तत्व', 'सूक्ष्म-प्रकृति-तत्व' और 'सूक्ष्म सकल तत्व' कहते हैं।

३४ वें 'सदा-शिव'-तत्व से सम्बद्ध होकर शिव, विष्णु आदि ईश्वर इच्छा-शक्ति को प्राप्त करते हैं। इसे 'उद्भुक्त तत्व', 'भोग-तत्व' और 'सकल-निष्कल तत्व' भी कहते हैं।

३५ वें 'शक्ति'-तत्व से सम्बद्ध होकर शिव, विष्णु आदि ईश्वर अनुग्रह पूर्ण होकर सबके प्रति कृपालु होते हैं। इसे 'स्थूल लय-तत्व', 'स्थूल निष्कल-तत्व' और 'विन्दु-तत्व' भी कहते हैं।

३६ वें 'शिव'-तत्व से सम्बद्ध होकर शिव, विष्णु आदि ईश्वर आनन्द-मय होते हैं। इसे 'सूक्ष्म लय तत्व' और 'सूक्ष्म निष्कल तत्व' भी कहते हैं।

उक्त पाँच तत्व—१ शिव, २ शक्ति, ३ सदा-शिव, ४ ईश्वर और ५ शुद्ध-विद्या—शुद्ध-माया से उद्भूत होते हैं। इन्हें 'शुद्ध तत्व', 'प्रेरक कन्द' और 'शिव-तत्व' भी कहते हैं। जिस शुद्ध-माया से इनका उद्भव होता है, वह 'महामाया', 'कुडिला', 'कुण्डलिनी' और 'विन्दु' नामों से प्रसिद्ध है।

'हे ऋषि अगस्त्य ! जीव इन्हीं ३६ तत्वों से बँधे हैं। जीवों को बन्धन से मुक्त कराने में पाँच शिव-तत्वों की असफलता से ही उन्हें बन्धनकारक तत्व कहा जाता है। भक्ति, गुरु द्वारा दीक्षा और मन्त्र-जप की सहायता से जो इन ३६ तत्त्वों का शोधन कर लेता है, वही इन तत्वों के बन्धन से छूट कर मुक्ति को प्राप्त करता है। यही कारण है कि आचमन करते समय साधक निम्न मन्त्रों का उच्चारण करते हैं—

'आत्म-तत्त्वं शोधयामि स्वाहा, विद्या-तत्त्वं शोधयामि स्वाहा, शिव-तत्वं शोधयामि स्वाहा।'

परम्बा के श्रीविद्या-मन्त्र से दीक्षित साधक इन मन्त्रों के पूर्व श्रीविद्या मन्त्र के खण्डों (क-५, ह-६, स-४) को क्रमशः जोड़ लेते हैं।'

इस प्रकार हयग्रीव के प्रवचन समाप्त करने पर अगस्त्य उठ खड़े हुए और उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम कर निवेदन किया कि 'भगवन्, मैं आपका परम भक्त शिष्य हूँ। मुझे कृपया श्रीविद्या में दीक्षा प्रदान करें।'

हयग्रीव बोले, 'हे ऋषि, तुमने यह प्रार्थना ठीक समय पर की है। उत्तरायण का पवित्र काल है। साथ ही शुक्ल पक्ष भी है। कल पूर्णिमा है। शुक्रवार का दिन भी है। अतः मैं कल ही तुम्हें दीक्षित करूँगा। तुम आज से ही व्रत और उपवास का पालन करना प्रारम्भ कर दो और परम्बा का ध्यान करते रहो। अब तुम घर जाओ। तुम्हें कामाक्षी मन्दिर में ही ठहरना चाहिये। प्रातःकाल नित्य-कर्म करने के बाद तुम यहाँ आना। मैं परम्बा की अपनी नियमित प्रार्थना करने के बाद विधिपूर्वक तुम्हें दीक्षा दूंगा। तुम्हें कुछ बातें और जान लेनी चाहिये। कृपया उन्हें सुनो—

'हे ऋषि, वस्तु (पदार्थ) की अपेक्षा उस वस्तु के नाम का शब्द अधिक महत्वपूर्ण होता है। सभी प्रकार के शब्दों में वेदों का शब्द श्रेष्ठ है। वेदों से भी महान् होते हैं वेद-मन्त्र। मन्त्रों में विष्णु के मन्त्र महत्वपूर्ण हैं। उनसे अधिक महत्व के हैं दुर्गा के मन्त्र। उत्तरोत्तर महत्व के मन्त्र क्रमशः इस प्रकार हैं—गणपति मन्त्र, सूर्य मन्त्र, शिव मन्त्र, लक्ष्मी मन्त्र, सरस्वती मन्त्र, पार्वती मन्त्र, आम्नाय मन्त्र, वाराही मन्त्र और श्यामला मन्त्र। इन सबसे महान् मन्त्र हैं श्री ललिता देवी के मन्त्र, जो दस विविध प्रकार से उच्चारित होते हैं। उनमें से दो—'लोपामुद्रा' और 'काम-राज' बहुत ही श्रेष्ठ हैं। पञ्च-दशाक्षरी लोपामुद्रा हादि-विद्या के नाम से प्रसिद्ध है। उसे तुम्हारी पत्नी द्वारा प्रचारित और सिखाया गया है। इससे भी श्रेष्ठ 'काम-राज पञ्च-दशाक्षरी' कादि-विद्या के नाम से प्रसिद्ध है। अतः हे लोपा-मुद्रा-पति ! मैं तुम्हें उसी कामराज की दीक्षा दूँगा।'

यह सुनकर, अगस्त्य ने पूछा—'भगवन्, मैंने भगवन् सुब्रह्मण्य से दीक्षा प्राप्त की है और मैं भगवान् शिव की उपासना करता रहा हूँ। क्या उसे छोड़कर राज-राजेश्वरी की उपासना करना उचित होगा ? कृपया मुझे यह समझाने का कष्ट करें।'

हयग्रीव ने कहा—'तुम्हारा प्रश्न सर्वथा उचित है। यह सच है कि जो देवता की उपासना या मन्त्र में परिवर्तन करता है, वह तारतम्यता के लाभ से वञ्चित हो जाता है किन्तु यदि कोई किसी अन्य देवता की अपनी उपासना बदलकर ललिताम्बिका की उपासना में लगता है, तो ऐसा करना पूर्व-देवता के त्याग करने के समान नहीं होगा, अपितु वह अपनी वर्तमान उपासना को ही अधिक मनोयोग से करेगा। इसी प्रकार जो किसी मन्त्र का जप करता है, वह यदि श्रीविद्या को जप के लिये ग्रहण करता है, तो उसका यह अर्थ नहीं होता है कि उसने पूर्व मन्त्र का त्याग किया है, अपितु वह उसी मन्त्र को अधिक अच्छे रूप में जप करने लगा है, ऐसा माना जाता है। क्या यह उचित नहीं है कि स्थूल पञ्चाक्षर को छोड़कर सूक्ष्म पञ्चाक्षर और तब कारण पञ्चाक्षर को ग्रहण कर अन्त में मुक्ति-पञ्चाक्षर प्रणव का जप किया जाय ? इसी प्रकार सभी मन्त्रों का सार और प्रभाव श्री विद्या में निहित है, अतः किसी भी मन्त्र को छोड़कर उसके स्थान में श्री विद्या को ग्रहण किया जा सकता है।

'उदाहरण के लिये यदि कोई किसी राजा के एक अधिकारी की मित्रता को छोड़कर किसी दूसरे अधिकारी से मित्रता करता है, तो निश्चय ही उसे पहले अधिकारी की मित्रता के लाभ से वञ्चित होना होगा किन्तु यदि वह पहले अधिकारी को छोड़कर स्वयं राजा से मित्रता कर लेता है, तो न केवल उसे

(शेष पृष्ठ २२ के नीचे)

शाक्त-साधना के कुछ रहस्य

कौलाचार्य पं० श्रीनथमल दाधीच, श्रीभुवनेश्वरी महा-शक्ति पीठ, सीकर (राज०)

सच्चे सिद्ध साधक भगवती की इच्छा से ही सञ्चालित रहते हैं। जिस भी कार्य की ओर वे अभिमुख होते हैं, वह अवश्य ही सिद्ध होता है किन्तु प्रबल प्रारब्ध-योग अकाटच होने से ऐसे सिद्ध साधकों को भी उसे भोगना ही पड़ता है, भले ही वे उसकी परवा न करें क्योंकि भगवती की कृपा से उन्हें उस भोग को सहज ही सहन करने की शक्ति प्राप्त रहती है। वैसे प्रारब्ध-भोग करने में सामान्य संसारी जनों को नानी की याद आ जाती है। ईश्वरीय अवतार तक प्रारब्ध कष्टों के घटाटोप में संघर्ष-रत रहे हैं। ऐसी दशा में यह उचित ही है कि शाक्त साधक अपने तान्त्रिक साम्राज्य के सुदृढ़ दुर्ग को साधना के बल से और शाक्त साधना में निर्दिष्ट कवच-कीलकादि समस्त सेना को सुदृढ़ बना साधना-समर में विजय को प्राप्त करे।

इसमें सन्देह नहीं कि साधना की प्रगति के समय शाक्त साधक के समक्ष बड़े-बड़े आश्चर्य-जनक, क्रूर एवं भयावह दृश्य भी उपस्थित होते हैं। उस समय निर्बल-हृदय वाला साधक पलायन कर या तो विक्षिप्त अवस्था या मृत्यु तक को प्राप्त करता है अथवा साधना-मार्ग से ही भ्रष्ट हो जाता है। ऐसी कठिन स्थिति में यदि गुरु-कृपा का वरद हस्त मस्तक पर रहे; साथ ही उत्तर साधक भी साधन-व्यवस्था में शस्त्र धारण कर प्रस्तुत हों, तो प्रगति-शील शाक्त साधक की रक्षा होती है और वह अपने लक्ष्य पर सुदृढ़ रह कर उस वीर-युद्ध में अवश्य विजय प्राप्त करता है।

(पृष्ठ २१ का शेषांश)

पूर्व अधिकारी की कृपा प्राप्त रहती है अपितु पहले से अधिक उसकी कृपा उस पर हो जायगी। क्या ऐसा नहीं होगा ? अवश्य होगा। इसी प्रकार राज-राजेश्वरी की उपासना करने से कोई भी अन्य देवताओं की उपासना के लाभ से वञ्चित नहीं होता, अपितु और अधिक लाभ उसे मिलता है। यही नहीं, ललिता महा-शक्ति की महिमा का यह केवल एक पक्ष है, जो अन्य देवताओं के रूप में प्रकट होकर उपासकों पर अनुग्रह करता है। अतः किसी भी देवता का उपासक जब इस महा-महा-त्रिपुराम्बा की उपासना करने लगता है, तब अनुग्रह के एक अंश मात्र को पाने के स्थान पर वह पूर्ण अनुग्रह का अधिकारी बन जाता है।'

यह सुनकर अगस्त्य बोले--'भगवन्, पूज्य गुरुदेव ! मेरे सभी सन्देह दूर हो गये। मैं आपके निर्देशों का पालन करूँगा, आपके बताये अनुसार व्रत और उपवास करूँगा।'

इस प्रकार निवेदन कर उन्होंने भगवन् हयग्रीव को साष्टाङ्ग प्रणाम किया, उस दिन की पूजा के दर्शन किये और पूर्ववत् प्रसाद ग्रहण किया। अगले दिन उन्होंने विधिपूर्वक दीक्षा प्राप्त की। तब उन्होंने सारे दिन और सारी रात मन्त्र का जप किया। ठीक सूर्योदय के पूर्व वे निद्रित हुये और स्वप्न में उन्हें पराम्बा ने दर्शन देकर यह आशीर्वाद दिया कि 'मेरी कृपा से तुम सभी ऋषियों में श्रेष्ठ होगे।' यह वरदान देकर पराम्बा अदृश्य हो गई और अगस्त्य तुरन्त जग गये। अपने नित्य-कर्म समाप्त कर वे अपने आश्रम पहुँचे और जो कुछ हुआ था, सब लोपामुद्रा को बताया। फिर वे भगवान् हयग्रीव के पास गए और उन्हें अपने स्वप्न की बात बताई। (क्रमशः)

साधना-रत शाक्त साधक के कार्य में अकारण ही विघ्न-बाधा उपस्थित होकर उसे साधना-मार्ग से च्युत कर देते हैं। जो नीच जीव इस कार्य के लिए ही उत्पन्न होते हैं, वे अनायास ही इस दुष्ट कार्य में तत्पर हो जाते हैं। इस समस्या का सामना प्रायः सभी शाक्त साधकों को करना पड़ता है। जो भी शाक्त-साधना के समर में अग्रसर होगा, उसे इस समर के आघात-प्रत्याघातों को सहन करना ही होगा। इसके सर्वथा निवारण के लिए कोई सुलभ उपाय नहीं है।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि साधक का शोषण करने के लिए स्वार्थी लोगों का जमघट चौतरफा फैलने लगता है। इस महा-विघ्न से शाक्त साधक को बहुत सावधान रहना चाहिए। विविध कामनाओं की पूर्ति की लालसा से ये लोग साधक के अमूल्य समय को बर्बाद कर साधना के उच्च मार्ग से उसे कई सौ गज नीचे धकेल देते हैं और साधक को पूर्व-स्तर पर आने के लिए पुनः प्रयत्न करना पड़ता है।

आत्मोन्नति के लिए संसार में जितने भी व्यावसायिक कार्य हैं, उन सबसे अधिक प्रभावशाली शाक्त साधना ही है। शाक्त साधक के चरमोत्कर्ष से ईर्ष्यालु कुटिल बुद्धिवाले जिज्ञासुओं की भीड़ अपने दूषित भौतिक चक्र से साधक के दिव्य शक्ति-मण्डल को बिच्छिन्न कर साधक को बहुत से अनिष्ट विषयों में संलग्न कर देती है। अतः ऐसे जनों को तत्काल अपने साधना-स्थल (पीठ) से दूर कर देना चाहिए।

शाक्त साधक को अपने 'साधना-पीठ' की दिव्य शक्ति की सुरक्षा की विशेष व्यवस्था करनी चाहिए। किसी व्यक्ति-विशेष के प्रभाव में नहीं आना चाहिए। उसे इस बात पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए कि 'मेरे योग-क्षेम की रक्षा की बागडोर पराम्बा ने अपने हाथ में ले रखी है। समय उपस्थित होने पर वह अवश्य रक्षा-व्यवस्था और जीवन-यापन की समस्त सामग्रियों का प्रबन्ध चामत्कारिक ढंग से करेगी।' इस भावना में कोई संशय नहीं रहना चाहिए।

अर्थात् शाक्त साधक को अपनी साधना के सम्बन्ध में श्रीपराम्बा के अतिरिक्त अन्य किसी पर निर्भर नहीं होना चाहिए। साथ ही, पूजन-अर्चन का जो विधि-वत् विधान है, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि या शिथिलता न आने देनी चाहिए, अन्यथा साधना की सिद्धि में भी वैगुण्य और शैथिल्य आ जायेगा। इसके लिए शाक्त साधक को बहुत सावधानी के साथ अपनी क्रियाओं का निरन्तर निरीक्षण करते रहना चाहिए। इस प्रकार वह ठगे जाने से अपना बचाव कर सकेगा।

साधना के समय काम में आनेवाली सामग्रियों आदि के प्रति पूर्ण ध्यान रखना आवश्यक है। तभी दूषित 'अथर्वा'-शक्ति से रक्षा हो सकेगी। सबसे अधिक 'प्रतिग्रह' (दूसरों से रुपये-पैसे, फल-फूल, मिष्ठान्नादि लेना) साधक का अवश्य पतन कर देता है। अतः अर्थ के मद से मदान्ध धन-पिशाचों के संपर्क से अवश्य बचना चाहिए।

साधना कोई सामान्य सौदेबाजी नहीं है, जिसमें अनायास ही सफलता प्राप्त हो जाय। वह तो अनन्त जन्मों में सञ्चित पुण्यों का फल है। अतः भ्रम या प्रमाद-वश अपने अमूल्य समय को व्यर्थ में न गँवाना चाहिए। दृढ़ विश्वास के साथ मातृ-कृपा-दृष्टि के प्रत्यक्ष फल के समय की प्रतीक्षा-पूर्वक अपने गुरु-देव की शरणापन्नता ग्रहण कर कलि-युग में चार गुणा पुरश्चरण, पञ्चाङ्गोपासना, पुरश्चरण के नियमादिकों का पालन करते हुए अनवरत साधना—रत रहे, तो लेखक का यह दृढ़ विश्वास है कि ऐसा साधक लौकिक, अलौकिक——सभी सिद्धियों को प्राप्त करता हुआ अवश्य भुक्ति-मुक्ति को प्राप्त कर सकेगा।

'सिद्ध-पीठों' में जो शाक्त साधक साधना-रत रहता है, उसे अवश्य ही अभीष्ट सिद्धि मिलती है। साथ ही सर्वतोमुखी भुक्ति भी प्राप्त होती है। कुछ 'सिद्ध-पीठ' तो प्राकृतिक हैं, जैसे 'काम-रूप' आदि

और कुछ निजी साधना-पीठ साधक की अपनी तपस्या द्वारा 'सिद्ध-पीठ' बन जाते है। ऐसे सिद्ध-पीठों का सम्बन्ध जब प्राकृतिक सिद्ध-पीठों से स्थापित हो जाता है, तो वे 'महा-सिद्ध-पीठ' बन जाते हैं।

शिष्य को अटूट श्रद्धा होने पर जैसे गुरुदेव द्वारा शक्ति-पात प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार 'मणि-द्वीप' के आभास-लोक के सदृश प्राकृतिक 'सिद्ध-पीठ' हैं और उनके माध्यम से साधक पर 'मणि-द्वीप' द्वारा अनवरत महा-शक्ति-पात होता ही रहता है। इस प्रकार शक्ति-पीठ में जो भी साधक उपस्थित रहते हैं और वहाँ विधि-वत् साधना करते हैं, वे तत्काल पाप-मुक्त हो वहाँ को संग्रहीत शक्ति द्वारा अनुगृहीत होकर आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर होते हुए लौकिक एवं पारलौकिक कामनाओं की पूर्ति करते रहते हैं।

लेखक का अपना जो 'सिद्ध-पीठ' है, उसमें दर्शनार्थी श्रद्धा के साथ उपस्थित होकर अपनी जिस मनो-कामना-सिद्धि के लिए प्रार्थना करता है, वह अवश्य पूरी होती है, ऐसा बराबर प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। बात यह है कि जिन सिद्ध लोगों ने साधना कर मुक्ति प्राप्त की है और मणि-द्वीप-गमन किया है, उनके निजी साधना-पीठ से मणि-द्वीप तक एक राज-मार्ग सा बन गया है, अतः उन पीठों पर साधना-रत साधकों एवं सामान्य दर्शनार्थी भक्त-जनों को एक प्रकार से अनायास ही साधना-पथ पर अग्रसर होने की दिशा मिल जाती है। साथ ही उस सिद्ध-पीठ की जो महा-शक्ति है, उसके प्रयास से उन्हें साधना के उच्च स्तर की प्राप्ति भी सहज हो जाती है।

सिद्ध शाक्त साधकों द्वारा स्थापित मातृ-ब्रह्म के सिद्ध पीठों में मणि-द्वीप के महा-शक्ति-केन्द्र से बराबर शक्ति-पात होता रहता है। उसी के फल-स्वरूप उस 'सिद्ध-पीठ' की प्रगति और सुरक्षा स्वतः सम्पन्न होती रहती है। वहाँ साधना-रत या दर्शनार्थ पहुंचे साधकों को मणि-द्वीप में स्थित उस पीठ के सिद्ध-महापुरुषों द्वारा पथ-प्रदर्शन भी मिलता रहता है। यह बात 'पीठ-सिद्धि-रहस्य' का मौलिक विधान है, जो निजी अनुभव द्वारा कोई भी भक्त साधक हृदयङ्गम कर सकता है।

शाक्त साधक इस संसार में श्री जगदम्बा की इच्छा से ही सञ्चालित होकर साधना-मार्ग में कार्य-रत होते हैं, किसी व्यक्ति-विशेष के स्वार्थ से प्रेरित होकर नहीं। सच्चे साधकों के कार्य-कलापों की तुलना किसी सांसारिक व्यक्ति के कर्मों से नहीं की जा सकती। उसका अपना सारा कार्य पराम्बा की प्रेरणा से ही सञ्चालित होता है। अतः संसारी व्यक्ति उनके विषय में जो विवेचनायें करते हैं, वे प्रायः भ्रामक ही होती हैं। ऐसे साधकों के विषय में वही ठीक-ठीक समझ सकता है, जिसे पूर्व-सुकृतों के फल-स्वरूप श्रीजगदम्बा के कृपा-कटाक्ष का लाभ हुआ हो।

शाक्त साधना और सच्चे शाक्त साधकों का मूल्याङ्कन करने में सहायक कुछ रहस्यों की चर्चा यहाँ की गई है। इसी प्रकार की बहुत सी बातें हैं, जिन्हें सुधी-जन कुछ गम्भीर चिन्तन द्वारा स्वयं उद्घाटित कर सकते हैं और लाभ उठा सकते हैं।

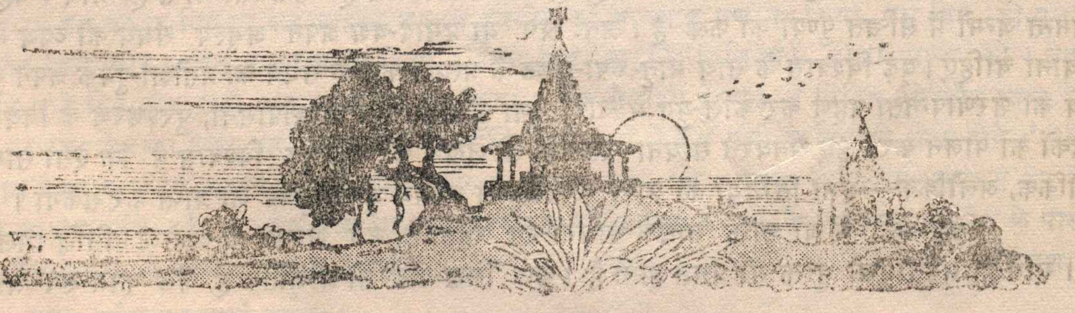

त्रिपुर-सुन्दरी षोडशी

पण्डित गङ्गाराम शास्त्री, अरेरा कालोनी, भोपाल (म० प्र०)

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीर में निवास करनेवाली शक्ति ही त्रिपुरा है। लक्ष्मी, सरस्वती और काली के रूपों में आराधनीय शक्ति ही त्रिपुरा है। जो ज्योतिर्मय, वर्ण-मय और यन्त्र-मय है, वह त्रिपुरा है। समष्टि-रूपा जो परा वाक् व्यष्टि में पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में नाम-रूप-मय सृष्टि का कारण है, वह त्रिपुरा है। समष्टि-रूप में जो पर-बिन्दु नाद, बिन्दु और बीज के रूप में सृष्टि का कारण है, वह त्रिपुरा है। सोम, सूर्य और अग्नि के रूप में जो शक्ति विश्व की प्रकाशिका है, वह त्रिपुरा है। समष्टि-रूप ॐकार के अ, उ और म इन तीनों वर्णों से तीन मात्रा से जिसका बोध होता है, वह त्रिपुरा है। तीनों लोकों की अधिष्ठात्री शक्ति त्रिपुरा है। इसीलिये पञ्च-स्तवी में कहा गया है—

देवानां त्रितयं त्रयी हुत-भुजां शक्ति-त्रयं त्रि-स्वराः,
त्रैलोक्यं त्रि-पदी त्रि-पुष्कर-मयी त्रि-ब्रह्म-वर्णास्त्रयः।
यत्-किंचिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रि-वर्गादिकं,
तत्-सर्वं त्रिपुरेति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्वतः॥

'तीनों देव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तीनों अग्नि, तीनों शक्ति, तीन स्वर, तीनों लोक, गायत्री के तीन पाद, त्रि-पुष्कर, तीन वर्ण—इस प्रकार इस संसार में जो कुछ तीन प्रकार से नियमित है, जो त्रिवर्ग और त्रिगुण आदि शब्द से निर्दिष्ट हैं, हे त्रिपुरे भगवति, ऐश्वर्य-मयी वे सब तेरे ही पर्याय हैं।'

ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी के रूप में जो है, वह त्रिपुरा है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप से त्रिपुरा है। सत्, चित और आनन्द-स्वरूपा होने से जो त्रिपुरा है। रक्त, शुक्ल और श्याम वर्ण से त्रिपुरा, ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि और रुद्र-ग्रन्थि भेदन कर सहस्रार में निवास करनेवाली त्रिपुरा, जो जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति-रूप में व्यष्टि में और तुरीया में समष्टि-रूप में विद्यमान, वह त्रिपुरा, भूत, भविष्य और वर्तमान जो तीनों कालों की कलना करनेवाली, वह त्रिपुरा है। शरीरान्तर्वर्ति इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना तीनों की अधिष्ठात्री वह त्रिपुरा है। सुषुम्नान्तर्वर्ति अग्नि-ज्वाला-वत् तामसी, उसके भीतर सूर्य-वत् भास्वर वज्रा राजसिक और उसके अन्दर चित्रिणी में पीत-वर्ण अमृत-स्राविणी सात्विक-रूपा—इस प्रकार त्रिपुरा है। जो शरीर में अग्नि, वायु और जल के रूप में सारी क्रियाओं का संचालन करती है, जो सूक्ष्म शरीर में प्राज्ञ, तैजस और विश्व के रूप में है, जो वैश्वानर, विराट् और हिरण्य-गर्भ के रूप में विश्व-चेतना है, वही त्रिपुरा है।

शारदातिलक में कहा गया है—

'यन्त्रं त्रि-गुणितं देव्या लोक-त्रय-गुण-त्रयम्, धाम-त्रयं सा वेदानां त्रयं वर्ण-त्रयं शुभा।
त्रि-पुष्करं स्वरान् देवी ब्रह्मादीनां त्रयं त्रयं, वह्नेः काल-त्रयं शक्ति-त्रयं वृत्ति-त्रयं मतम्।
नाडी-त्रयं त्रि-वर्गं सा यद्-यदन्यत् त्रिधा मतम्।

'देवी का त्रिगुणित—तीन रेखा वाला अकथ यन्त्र, तीन लोक, तीन गुण, तीन धाम, तीन वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, ओंकार के तीन वर्ण—अ, उ और म, त्रिपुष्कर, तीन स्वर—उदात्त, अनुदात्त

और स्वरित, तीन देवी—गायत्री, सरस्वती और सावित्री, ब्रह्मा, विष्णु और महेश—तीन देवता, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय—तीन अग्नि, तीनों काल—अतीत, वर्तमान और भविष्य, प्रातःकाल, मध्यान्ह और सायंकाल, तीन शक्ति—रौद्री, वामा और ज्येष्ठा, प्रभाव, उत्साह और मन्त्रजा, तीन वृत्ति—याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह अथवा कृषि, पशु-पालन और वाणिज्य, तीन नाड़ी—इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना, त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम तथा और जो भी तीन-तीन हैं, वे सब देवी के ही रूप हैं।'

और भी कहा गया है—

त्रि-गुणा सा त्रि-दोषा सा त्रि-वर्णा सा त्रयी च सा,
त्रि-लोका सा त्रि-मूर्तिः सा त्रि-रेखा सा विशिष्यते।

"वही देवी तीन गुण सत, रज और तम, तीन दोष अथवा तीन धातु—वात, पित्त और श्लेष्मा, अ, उ, म तीन वर्ण, वेद-त्रयी, तीन लोक, त्रि-मूर्ति और अकथ त्रिकोण की तीन रेखा-मय है।"

'ललिता-सहस्र-नाम' के सौभाग्य-भास्कर-भाष्य में कहा गया है—

नाडी-त्रयं तु त्रिपुरा सुषुम्णा पिङ्गला इड़ा, मनो-बुद्धिस्तथा चित्तं पुर-त्रयमुदाहृतम्।
तत्र तत्र वसत्येषा तस्मात्तु त्रिपुरा मता।

"तीन नाड़ियों के कारण त्रिपुरा, मन, बुद्धि और चित्त तीनों को त्रिपुर कहते हैं—वहाँ निवास करने के कारण त्रिपुरा है। सभी त्रित्व उसी से होने के कारण उसे त्रिपुरा कहते हैं।"

जिस प्रकार ब्रह्म को सच्चिदानन्द-रूप कहा गया है, उसी प्रकार देवी का सत्-रूप सन्धिनी शक्ति, चित्-रूप सम्वित् शक्ति और आनन्द-रूप ह्लादिनी शक्ति है। संसार में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के रूप में जो कुछ भी दृश्यमान है, वही है। वह ज्ञाता भी है ज्ञेय भी है और ज्ञान भी वही है। इस प्रकार वह त्रिपुरा है। सृष्टि, स्थिति और संहार के समय तीनों रूपों में वर्तमान होने के कारण वह त्रिपुरा है। वेदान्त में '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' कहकर जिस '**इदं**' का संकेत किया गया है, '**तत्त्वमसि**' में जो '**त्वं**' पद-वाच्य है, और '**अहं ब्रह्मास्मि**' में जो अहन्ता-बोधक है, वह त्रिपुरा है। इसी को क्रमशः भेद-दृष्टि, भेदाभेद-दृष्टि और अभेद-दृष्टि कहा गया है। जब साधना करते-करते भेद और भेदाभेद के अगले स्तर पर सर्वत्र वही एक तत्व दृष्टिगोचर होने लगता है, जिसे उपनिषद में कहा गया है—'तत्र को मोहः, कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'—उसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए श्रीदुर्गा-सप्तशती में कहा गया है—

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।

इस प्रकार वह एक ही शक्ति तीन रूपों में होने के कारण त्रिपुरा कही जाती है।

उसका ही नाम षोडशी है। ध्वनि से वर्ण-मय सृष्टि होने पर प्रथम सोलह स्वर उद्भूत होते हैं। इस प्रकार प्रथमा वैखरी वाक् षोडशी है। अकथ चक्र के अनुसार उसके तीन कोण और तीन रेखाओं पर क्रमशः अकारादि षोडश स्वरों से क्रमशः अमा रेखा, 'क' से 'त' तक षोडश व्यंजनों से ज्येष्ठा रेखा और 'थ' से 'स' तक सोलह व्यंजनों से रौद्री रेखा बनती है। इस तीन रेखावाले कोण को त्रिकोण अथवा योनि कहा जाता है क्योंकि वर्ण-मय सृष्टि से ही नाम-रूप-मय सृष्टि होती है। इस त्रिकोण के ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये तीन बिन्दु हैं। इन्हीं बिन्दुओं को सूर्य, चन्द्र और अग्नि मानकर देवी के तीन नेत्र कहे जाते हैं। इन्हीं रेखाओं को सत्व, रजस् और तमस् रेखा कहा जाता है। सोलह-सोलह वर्णों के इस त्रिकोण के कारण वह षोडशी है।

श्रीयन्त्र को देवी का यन्त्र-मय तनु कहा है। उसके षोडशार होने से वह षोडशी है। श्रीविद्या के षोडशाक्षर होने के कारण वह मन्त्र-रूप में षोडशी है। षोडश चन्द्र-कलाओं की अधिष्ठात्री होने से

वह षोडशी है। काल की कलना में शुक्ल और कृष्ण पक्ष में आवर्तमान प्रतिपद् से पूर्णिमा तक और अमा तक पन्द्रह तिथियाँ होती हैं। केन्द्र में विद्यमान अखण्ड काल की बोधक जो षोडशी कला है, वह कालातीत षोडशी है।

चन्द्रमा की षोडश कलाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—१ अमृता, २ मानदा, ३ पूषा, ४ तुष्टि, ५ रति, ६ पुष्टि, ७ धृति, ८ शशिनी, ६ चन्द्रिका, १० कान्ति, ११ ज्योत्स्ना, १२ श्रीं, १३ प्रीति, १४ अंगदा, १५ पूर्णा और १६ पूर्णामृता। इन सोलह कलाओं की देवी षोडशी है। विशुद्धि चक्र में षोडश-पद्म के सोलह स्वर और चन्द्र की सोलह कलाएँ ही सोलह मणियाँ हैं। इसीलिये श्री भास्कर राय ने 'ललिता-सहस्र-नाम' में कहा है—

'विशुद्ध-चक्रं नीत्वा तत्रत्य चन्द्र-कला-रूपैर्मणिभिः पूरयित्वा'—इस प्रकार विशुद्धि-चक्रस्था देवी षोडशी है।

मानव शरीर के षोडश आधार बताये गये हैं—

अंगुष्ठ-गुल्फ-जानूरु-सीवनी-लिंग-नाभयः, हृद्-ग्रीवा-कण्ठ-देशश्च लम्बिका नासिका तथा।
भ्रू-मध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्म-रन्ध्रकं, एते हि षोडशाधारा कथिता मुनि-पुङ्गवैः।

१ पैर का अंगूठा, २ गुल्फ, ३ जानु, ४ उरु, ५ सीवनी, ६ लिंग, ७ नाभि, ८ हृदय, ६ ग्रीवा, १० कण्ठ, ११ लम्बिका, १२ नासिका, १३ भ्रू-मध्य, १४ ललाट, १५ मूर्धा और १६ ब्रह्म-रन्ध्र। इन षोडश आधारों में संचरण-शीला शक्ति षोडशी है।

आद्या शक्ति ललिता के अङ्गी-भाव से अन्य पञ्चदश-शक्तियाँ और हैं। उन्हें मिलाकर ललिता देवी सहित सोलह होने से वह षोडशी है। कहा भी गया है—

आद्यायाः ललितायाः स्युरन्या पञ्च-दशाङ्गगाः। ललिताङ्गित्व-रूपेण सर्वासामात्म-विग्रहाः।।

हमारा शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच तत्वों से तथा कान, त्वचा, चक्षु, जीभ, नासिका, वाणी, पाद, हाथ, पायु, उपस्थ और मन—इन एकादश इन्द्रियों से कामाकर्षिणी आदि सोलह शक्तियों से अधिष्ठित होकर क्रिया-शील है। ये सोलह शक्तियाँ उस एक की ही भिन्नाकार होने से वह षोडशी है।

जिस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण-भेद से शरीर तीन होते हैं, उसी प्रकार शक्ति, जो काल-मयी है, जो देश-मयी है और जो देश-काल-उभयात्मक है—वह त्रिपुरा षोडशी है। काल-रूप में चन्द्रमा की षोडश कला और तिथियों का उल्लेख किया जा चुका है। योगी-जन दिन-रात की श्वास-प्रश्वास की क्रिया में भी तिथियों का विचार करते हैं। कहा गया है—

सर्वा अपि तिथयः २१,६०० श्वास-रूपा तेषु १,४४० प्रत्येका तिथिः तत्-समष्टिः विग्रह-वती ललिता।

सभी तिथियों में प्रति-दिन इक्कीस हजार छः सौ बार श्वास का आवागमन होता है। उसे पन्द्रह से विभाजित करने पर एक तिथि का मान एक हजार चार सौ चालीस श्वास-काल होता है। इस प्रकार व्यष्टि-रूपा पन्द्रह तिथियाँ और समष्टि-रूपा एक मिलकर षोडशी। काल-परिमाण का इससे भी सूक्ष्म विचार करने पर एक श्वासोच्छ्वास में चार सेकण्ड का समय लगता है, जिसे योगी-जन ३६ मात्रा-काल कहते हैं। शाक्त और शैव मत में इसी मात्रा-क्रम से ३६ तत्व माने जाते हैं। इनमें सवा दो मात्रा काल की एक तिथि होती है।

इस प्रकार पन्द्रह तिथियों का मात्रा-काल पौने चौंतीस मात्रा का होता है। शेष सवा दो मात्रा-काल सन्धि-काल षोडशी का होता है। इसे सन्ध्या नाम दिया गया है। इसी को 'योग-सूत्र' में भगवान्

पतञ्जलि ने क्षण कहा है। इस क्षण में प्राण का सञ्चार सुषुम्णा के द्वारा होता है। यदि योगी अभ्यास के द्वारा सुषुम्णा में प्राण की स्थिति के समय का नियमन कर सके, तो काल-जयी हो सकता है क्योंकि जब तक प्राण और अपान की गति इड़ा और पिङ्गला से होकर है, तभी तक प्राण-शक्ति के क्षय का क्रम चलता है। सुषुम्णा में प्राण के स्थिर होने पर प्राण का क्षय नहीं होता। इसीलिये सुषुम्णा को काल-भोक्त्री कहा गया है। इसी को शिव और शक्ति की सामरस्यावस्था कहा गया है।

'भावनोपनिषद्' की व्याख्या में भास्कर-राय ने बताया है कि द्वीप सात हैं—१ जम्बू, २ प्लक्ष, ३ शाल्मलि, ४ कुश, ५ क्रौंच, ६ शाक और ७ पुष्कर। इनके अन्तराल में छः समुद्र हैं—१ लवण, २ इक्षु, ३ सुरा, ४ सर्पि, ५ मधु और ६ क्षीर समुद्र। इनसे बाहर सातवाँ मधुरोदक समुद्र है। इससे भी परे दक्षिण को ओर जो प्रदेश है, उसी को परम व्योमन् कहा गया है। इसका संकेत ऋग्वेद में भी—'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' में किया गया है। इन द्वीपों के पहिले मेरु है। इस प्रकार सात द्वीप, सात समुद्र, मेरु और परम व्योम मिलकर सोलह होते हैं। इ। प्रकार देश-क्रम से इन सोलह में व्याप्त शक्ति ही 'षोडशी' है। इस प्रकार काल में और देश में षोडशी की स्थिति का प्रतिपादन करके अब देश-काल—उभयात्मक विचार किया जाता है। नक्षत्र-लोक में देश-काल उभयात्मक स्थिति में १ चन्द्र, २ बुध, ३ शुक्र, ४ रवि, ५ भौम, ६ गुरु, ७ शनि और ८ नक्षत्र की कक्षा और आठ इनके अन्तराल मिलकर सोलह होते हैं। इनकी अधिष्ठात्री और नियामिका शक्ति षोडशी है।

'श्रीदुर्गा-सप्तशती' और 'शाक्त-प्रमोद' में त्रिपुर-सुन्दरी का ध्यान इस प्रकार दिया गया है—

बालार्क-मण्डलाभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्। पाशांकुश-शरांश्चापान् धारयन्तीं शिवां भजे॥

"प्रातः-कालीन सूर्य-मण्डल के समान अरुण-वर्ण जिनकी कान्ति है, जिनकी चार भुजाएँ और तीन नेत्र हैं, जो अपने चार हाथों में पाश, अंकुश, धनुष और वाण धारण किये हैं, उन शिवा को नमस्कार है।"

'भावनोपनिषद्' में बताया गया है कि शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श—ये पंच-तन्मात्राएँ ही देवी के पंच-वाण हैं। मन ईख का धनुष है, राग ही पाश है और द्वेष अंकुश है। 'तन्त्र-राज' में भी कहा है—

मनो भवेदिक्षु-धनुः रागः पाश उदीरितः। द्वेषः स्यादंकुशः पंच-तन्मात्रा पुष्प-सायकाः॥

'काम-कला-विलास' के अनुसार आयुधों को भगवती की इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्ति का वाचक बताया गया है—

इच्छा-शक्ति-मयं पाशं अंकुशं ज्ञान-रूपिणं, क्रिया-शक्ति-मयं वाण-धनुषी दधदुज्ज्वलम्।

"इच्छा-शक्ति ही मनुष्य को कर्म-बन्धन में बाँधने के कारण 'पाश' आयुध है, हमारी इच्छाओं पर ज्ञान ही अंकुश लगाता है इसलिये ज्ञान को 'अंकुश' कहा गया। क्रिया-शक्ति ही संसार की सभी प्रवृत्तियों का कारण होने से देवी के 'धनुष-वाण' हैं।"

इसीलिये कहा गया है—'**इच्छा-ज्ञान-क्रिया-शक्तय एव तदाज्ञया पाशादि-स्वरूपमापन्नाः**' अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्ति ही उन देवी की आज्ञा से पाशादि-रूप को प्राप्त होकर उनके हाथों में अस्त्र-रूप में हैं। 'सुभगोदय-वासना' में कहा गया है—

देव्याः संवित्-सत्तायाः भेदोद्वमन-हेतुकाः। आयुधाख्याः परा-शक्तिर्बाणाद्याः पूजयाम्यहम्॥

"देवी तो संवित्-सत्ता मात्र हैं, संसार का सृजन-वमन करने के कारण ही उनका नाम वामा है। इस विश्व के वमन-सृजन में हेतु वाणा आदि आयुध के रूप में जो परा-शक्ति है, उसका मैं पूजन करता हूँ।" देवी के आयुध और उनकी पूजा का रहस्य इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है।

बालार्क-मण्डलाभासाम्—देवी को बालारुण सूर्य के समान प्रभा-वाला बताया गया है। विज्ञान मानता है कि सौर-मण्डल के सभी ग्रह-नक्षत्र सूर्य की शक्ति से ही अपनी-अपनी कक्षा में गति-शील हैं। समष्टि सृष्टि में इसे धृति कहते हैं। व्यष्टि-रूप में इसी को श्रीमद्भगवद्-गीता में—'धृत्या यया धारयते मतः प्राणेन्द्रिय-क्रियाः' कहा गया है। 'बालार्क-मण्डलाभासाम्' से देवी को इसी चराचर सृष्टि को धारण करने की शक्ति का संकेत है। किसी-किसी विद्वान् के मत से 'पाश' इसी आकर्षण-शक्ति का प्रतीक है। इसी सौर-शक्ति का ध्यान गायत्री मन्त्र के द्वारा किया जाता है। बालारुण-किरणों में अनेक रोगों के नाश करने की शक्ति को आज का विज्ञान भी स्वीकार करता है। यही बाला त्रिपुरा है। देवी के इसी तेज-त्रय के रूप को ध्यान में रखते हुए 'प्रपंच-सार' में कहा गया है—

देवाश्च श्रुतयः स्वराः समरुतो लोकाः स-वैश्वानराः,
कालाः शक्ति - युतत्रि - वर्ग - सहितास्तिस्रस्तथा वृत्तयः।
नाड्योऽन्यच्च जगत्-त्रये त्रि-नियतं यद्-वस्तु सम्बध्य तत्,
विश्वेषां स्थितये चरन्त्यविरतं सूर्येन्दु - वैश्वानराः।

"त्रिदेव, वेद-त्रयी, ओंकार, त्रिलोक, तीन, अग्नि, त्रि-काल, शक्ति-त्रय, त्रि-वर्ग, तीन वृत्तियाँ, तीन नाड़ियाँ और जो भी संसार में त्रित्व है, उसको स्थिति-धारणा के लिये तेजः-स्वरूप अग्नि, सोम और सूर्य गति-शील हैं।"

'पञ्च-स्तवी' में कहा गया है—'**ऐन्द्रस्येव शरासनस्य दधती मध्ये ललाट-प्रभां**' इत्यादि अर्थात्—

'पिण्ड में ज्योतिर्मय ध्यान के लिये कहा गया है कि शक्ति भ्रू-मध्य में इन्द्र-धनुष की प्रभा के समान प्रस्फुटित होती है, शिर में सब ओर से चन्द्रमा की शीतल चाँदनी के समान प्रभा का विस्तार करती है, हृदय में सूर्य की प्रभा-सदृश है, वह देवी इस प्रकार कुण्डलिनी के रूप में जागृत होकर हमारे पापों को दूर करे। वह ज्योतिर्मय और वाङ्-मय है।'

वाङ्-मय रूप का ध्यान 'शारदा-तिलक' में इस प्रकार बताया गया है—

'जो कुण्डलिनी-शक्ति मूलाधार में चतुर्दल कमल और 'श, ष, स' और 'व' वर्ण-मय है, स्वाधिष्ठान में षड्-दल-कमल और 'ब, भ, म, य, र' और 'ल' वर्ण-मय है, मणिपूर में दश-दल-कमल और 'ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प' और 'फ' वर्ण-मय है, अनाहत में द्वादश-कमल और 'क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट' और 'ठ' वर्ण से युक्त है, विशुद्ध चक्र में 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं' और 'अः' इन सोलह स्वरों से युक्त है, उन-उन पद्मों पर डाकिनी आदि शक्तियाँ और ब्रह्मादि देवताओं से जो युक्त है, वह पर-देवता कुण्डलिनी मूलाधार से उत्थित होकर सहस्रार तक चक्रों का भेदन करती हुई त्रिलोकी को आनन्दित करे।'

पृथ्वी में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द—ये पाँच तन्मात्राएँ हैं। जल में रूप, रस, स्पर्श और शब्द—ये चार तन्मात्राएं हैं। तेज में रूप, स्पर्श और शब्द—ये तीन तन्मात्राएँ हैं। वायु में स्पर्श और शब्द—दो तन्मात्राएँ और आकाश में शब्द तन्मात्रा है। इन पन्द्रह के अतिरिक्त जो अमात्र है, वही षोडशी है, जिसके लिये कहा गया है—'**नामात्रे विद्यते गतिः।**' अमात्र में देश-काल से परे होने के कारण गति नहीं है। गति वहीं तक है, जो देश-कालावच्छिन्न है। जो देश और काल से परे की अवस्था है, कैवल्य, मोक्ष और परम पद कहा गया है। इसी को—'**पुरुषे षोडश-काले तामाहुः अमृतां कलाम्**' षोडश-कला से युक्त पुरुष में इसी को 'अमृत-कला' कहा गया है। इसी को षोडशी कहते हैं।

अमृत-कला की व्याख्या—'**न जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति च**'

'जो न उत्पन्न होता, न सत् है, न असत् है।' इसीलिये ऋग्वेद में कहा है '**नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्**'—न उस समय सत् था, न असत्। जो न वृद्धि को प्राप्त हो, न अवस्थान्तर को प्राप्त हो। न क्षीण हो, न जिसका नाश हो, वही अमृत है। परा-शक्ति ही इन गुणों से युक्त है। अतः वही अमात्र और योगियों के लिये अर्ध-मात्रा के रूप में अनुभव-गम्य है। 'श्रीदुर्गा-सप्तशती' में उसे '**अर्ध-मात्रा-स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः**'—कहकर स्तुति की गई है।

देवी को ज्योतिर्मय और वाङ्-मय स्वरूपों की स्तुति के साथ यन्त्र-मय स्तुति 'सौन्दर्य-लहरी' में की गई है—

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिव - युवतिभिः पञ्चभिरपि, प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूल-प्रकृतिभिः।
त्रयश्चत्वारिंशद्-वसु - दल - कलास्र - त्रिवलय-त्रिरेखाभिः सार्धं तव शरण-कोणाः परिणताः॥

इस स्तुति में पाठ-भेद के कारण 'त्रयश्चत्वारिंशद्' के स्थान पर 'चतुश्चत्वारिंशद्' भी मिलता है। 'कलास्र-त्रिवलय' के स्थान पर 'कलाब्ज-त्रिवलय' पाठ भी मिलता है। 'शरण-कोणाः' के स्थान पर 'चरण-कोणाः' और 'भवन-कोणाः' भी मिलता है। चक्र के निर्माण के लिये निम्न-लिखित श्लोक सर्वमान्य है—

बिन्दु-त्रिकोण-वसुकोण-दशार-युग्म-मन्वस्र-नागदल-संयुत-षोडशारम्।
वृत्त-त्रयं च धरणी-सदन-त्रयं च श्रीचक्रराजमुदितं पर-देवतायाः॥

चक्र-निर्माण-विधि अप्रासंगिक होने के कारण न लिखते हुए उक्त स्तुति में 'त्रयश्चत्वारिंशत्' शब्द के अनुसार ४३ कोणों के रहस्य पर प्रकाश डाला जा रहा है—

सोम-सूर्यानलात्मक देवी के ४३ कोणों में चन्द्रमा की १६ कला और २७ नक्षत्र मिल कर ४३ होते हैं। द्वादशात्मा दिवाकर की १२ मूर्ति, १२ कला, १२ ऋषि, ३ वेद और ४ स्वर—इस प्रकार ४३ होते हैं। अष्ट-कोण से अग्नि की ८ मूर्ति, अन्तर्दशार से अग्नि की १० कला, बहिर्दशार से अग्नि की १० विभूति, चतुर्दशार से १४ लोक और विश्व सहित ४३ होते हैं। षोडशार में षोडशी नित्या की गणना इस प्रकार की जाती है—१ महा-त्रिपुर-सुन्दरी, २ कामेश्वरी, ३ भग-मालिनी, ४ नित्यक्लिन्ना, ५ भेरुण्डा, ६ वन्हि-वासिनी, ७ महा-विद्येश्वरी, ८ शिव-दूती, ९ त्वरिता, १० कुल-सुन्दरी ११ नित्या, १२ नील-पताका, १३ विजया, १४ सर्व-मङ्गला, १५ ज्वाला-मालिनी और १६ चित्-कला।

वर्ण-माला के ५० वर्ण ८ वर्गों में विभाजित हैं—१ अवर्ग, २ कवर्ग, ३ चवर्ग, ४ टवर्ग, ५ तवर्ग, ६ पवर्ग, ७ यवर्ग और ८ शवर्ग। अष्ट-दल पद्म पर इन अष्ट-वर्ग की स्थिति मानी जाती है। षोडश-दल पद्म में १६ नित्या कलाएँ १६ स्वरों के साथ मानी जाती हैं। इसी प्रकार ८ शक्ति, १२ योगिनी, आदि का श्रीचक्र में स्थान निर्दिष्ट होता है। ५० मातृका वर्णों का भी होता है, जो विस्तार-भय से नहीं लिखा गया। तीन कूट और षोडशाक्षर मन्त्र-राज, जिसके कारण देवी त्रिपुरा और षोडशी दोनों नामों से आराधना योग्य है, उसका विवरण गुरु-मुख से ही जानना चाहिये।

जो देशकाल से परे है, जो मन-वाणी से परे है उसका वर्णन किस प्रकार किया जाय। अतः—

हे भगवति ! आप ही आगे-पीछे, अन्दर-बाहर, परिमित-अपरिमेय, स्थूल-सूक्ष्म और पर, सकल-अकल, गुह्य-अगूढ, दूरस्थ-समीपस्थ, सत्-असत्—सभी कुछ हो। आप ही शिव, शक्ति, समया, समयिनी, आत्मा, दीक्षा, अणिमा, आदि, अविद्या, विद्या, और सब कुछ आप ही हो। आपसे पृथक् कोई तत्व हम तो नहीं समझते। उस सर्व-रूपा शक्ति को नमस्कार।

ग्रहों की शान्ति

पण्डित सतीशकुमार उपाध्याय, ग्राम दलापुर, इलाहाबाद

सूर्यादिक नवग्रह अपनी राशि, भाव, युति, योग, कारकत्व, दशा और गति आदि के कारण, जातक के पूर्व-जन्मार्जित कर्मानुसार, समय को अच्छा या बुरा व्यतीत कराते हैं, जिससे जातक को स्थायी हानि या स्थायी लाभ होता दिखाई पड़ता है।

सभी व्यक्ति ग्रहों को ही दोषी ठहराते है। वस्तुत ग्रह दोषी नहीं हैं, वे तो अपने कारकत्व के आधार पर विषय-अध्यापक की तरह शिष्य-वत् शिक्षा देने का कार्य करते हैं। यह कार्य वे अपनी ऊर्मियों के माध्यम से जातक के शरीर में शारीरिक-मानसिक परिवर्तन करके देते हैं। यदि शिष्य-वत् हम ध्यान देकर, ग्रह को गुरु-वत् स्वीकार करें, तो ग्रह की कृपा एवं निर्दिष्ट प्रक्रिया से समय की परीक्षा में उत्तीर्ण होने की पूरी सम्भावना है। इसी प्रक्रिया को ग्रह-शान्ति कहते हैं।

कहने का तात्पर्य यह कि शरीर में ग्रहों की जो ऊर्मियाँ प्रविष्ट होकर परिवर्तन करने-वाली हैं, उन ऊर्मियों के अनुकूल शरीर को निर्मित करना, अथवा उन ऊर्मियों को शरीर की क्षमता-नुसार ग्रहण करना अथवा उन ऊर्मियों का शरीर के अनुरूप परिवतन करने का नाम ही ग्रह-शान्ति है इसे एक उदाहरण के द्वारा आसानी के साथ समझ सकते हैं—

मान लीजिये, कोई छात्र संस्कृत-विषय में कमजोर है, अतः पहली प्रक्रिया के अनुसार छात्र के साथ अधिक परिश्रम कर उस कक्षा के अनुरूप छात्र का ज्ञान कर देना। दूसरी प्रक्रिया के अनुसार उसके ज्ञान के अनुरूप उसे कक्षा में बिठा देना हुआ तथा तीसरी प्रक्रिया के अन्तर्गत उससे संस्कृत विषय ही छुड़वा दिया जाय। ग्रहों को ऊर्मियों हेतु इन प्रक्रियाओं के लिये जो भी उपचार किये जाते हैं, उन्हें ग्रह-शान्ति कहते हैं।

'ग्रह-शान्ति' को निम्न विभागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—ग्रहों के अनुरूप रत्न एवं वस्त्र-धारण, २—ग्रहों के अनुरूप रत्नादिक पदार्थों का दान, ३—ग्रहों के अनुरूप व्रत, उपवास, स्नान आदि, ४—ग्रहों के अनुरूप मन्त्र, स्तोत्र-यज्ञादिक विधान।

नव-ग्रह-शान्ति में रत्न एवं वस्त्र धारण पर अत्यधिक पुस्तकें प्रकाशित हैं किन्तु इनके धारण से लाभ १०% ही होता है। उसके पीछे निम्न कारण हैं—

१—बाजार में शुद्ध रत्नों का अभाव सा है तथा उनकी पहचान भी कठिन है।

२—रत्नों में प्राण-प्रतिष्ठा-विधान सामान्यतः लोग नहीं करते हैं।

३—ग्रह-ऊर्मियाँ स्थान-विशेष, शरीर-विशेष तथा समय-विशेष के कारण यह आवश्यक नहीं है कि वे सम्पूर्ण रूप से लाभदायक प्रभाव छोड़ें। वे लाभ के साथ उक्त विशेषताओं के कारण हानि भी पहुँचाती हैं।

४—ग्रह-दशाओं तथा गोचर के आधार पर रत्नों का उपयोग निश्चित समय के लिये ही आवश्यक है।

५—रत्न मँहगे हैं और सामान्य जन के लिये आर्थिक दृष्टि से पहनना कठिन है।

६–रत्नों द्वारा नव-ग्रहों से आनेवाली ऊर्मियों का नियन्त्रण नहीं किया जा सकता क्योंकि ग्रहों की ऊर्मियाँ शरीर में किस मात्रा में प्रविष्ट होंगी, यह रत्न की गुणवत्ता तथा आकार पर निर्भर है।

इस पर भी यह देखा गया है कि कुछ लोगों को रत्न पहनने से अत्यधिक लाभ हुआ है। उसके पीछे एक प्रमुख कारण मानसिक चिन्तन का है। रत्न पहनने के पश्चात् जो व्यक्ति सदैव विचार करता है कि अमुक-ग्रह की शान्ति इस रत्न के पहनने से हो रही है, मनः-शक्ति के परिणाम-स्वरूप सम्बन्धित ग्रह का स्मरण सतत रूप से होने से उनका अधिक लाभ होता है।

शरीर में मन का अत्यधिक महत्व है। इसकी दो शक्तियाँ सङ्कल्प एवं विकल्प हैं। इन्हीं शक्तियों की परस्पर क्रिया के फल-स्वरूप कार्य की सफलता या असफलता निर्भर करती है। शास्त्र मन को बन्धन एवं मोक्ष का कारण निरूपित करता है—**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।**

अतः निश्चित है कि सारी क्रियाओं का जन्म-दाता मन है। हमारे प्रातः-स्मरणीय पूज्यपाद ऋषियों ने इसीलिये मन को सङ्कल्पित करने हेतु मन्त्र एवं स्तोत्र आदि की रचना की है। ये स्तोत्र या मन्त्र शरीर में परिवर्तन कर मन को सङ्कल्पित करते हैं तथा दूसरी ओर मन को संकल्पित कर शरीर में वांछित परिवर्तन करते हैं। 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'—यह श्रद्धा, आशा एवं विश्वास पर ही निर्भर है और यह सब भाव-शक्ति पर निर्भर है। इसीलिए शास्त्र कहता है—

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे, दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी॥

कहने का तात्पर्य यह कि मन्त्र, तीर्थ, द्विज देवता, ज्योतिषी, वैद्य एवं गुरु के प्रति जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसा ही फल मिलता है। अतः शास्त्रानुसार ग्रह की शान्ति उसी से करानी चाहिये, जिसके प्रति आपका आदर-भाव हो।

वस्तुतः 'ग्रह-शान्ति' के जितने भी उपाय हैं, वे मन्त्र-जप एवं यज्ञ के ही अङ्ग हैं। 'मन्त्र' परिवर्तन का सूक्ष्म कारण है, जबकि अन्य उपाय स्थूल कारण हैं। सूक्ष्म कारण ही मूल उपाय है।

ग्रह पृथ्वी के वातावरण को तीन तरह से प्रभावित करते हैं:—१—परावर्तित प्रकाश द्वारा, २—गुरुत्व-बल द्वारा, ३—सूक्ष्म ऊर्मियाँ निष्कासित कर।

यदि परावर्तित प्रकाश ही मूल कारण माना जाय, तो उन रंगों को कृत्रिम रङ्गीन वस्त्र तथा काँच के टुकड़ों द्वारा भी आवश्यकतानुसार छाना जा सकता है।

किसी भी पदार्थ की क्रिया-शीलता उसके विशिष्ट आणविक संगठन पर निर्भर है। खनिज रत्न लाल (रूबी) एवं नीलम में रासायनिक संरचना का उतना अन्तर नहीं है, जितना कि उनके आणविक संगठन का है। इसी प्रकार हीरे और कोयले में कोई भेद नहीं है।

मन्त्र-जप-प्रक्रिया भारतीय सिद्धान्त **'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे'** के अनुसार शरीर की आणविक संरचना में परिवर्तन कर वही कार्य करती है। वस्तुतः मन्त्र-जप—स्थूल, सूक्ष्म एवं परा तीन प्रकार का परिवर्तन करता है। अतः रत्न के स्थान पर मन्त्र-जप अधिक प्रभावी है। रत्न, वस्त्र, व्रत आदि मन की संकल्प-शक्ति को दृढ़ करने के स्थूल साधन मात्र हैं।

इसके अतिरिक्त इस दिशा में जातक स्वतः प्रयत्नशील हो सकता है। स्तोत्र मन्त्रों के ही विस्तृत रूप हैं, जिनका अर्थ स्थूल, सूक्ष्म एवं रहस्यार्थ के रूप में समझ उसे स्वतः घटित कर सकते हैं।

रत्न में ग्रह को प्राण-प्रतिष्ठा मन्त्र के माध्यम से आणविक परिवर्तन है। इस प्राण-प्रतिष्ठा की सार्थकता प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाले व्यक्ति की साधना पर निर्भर है।

आदि-शक्ति राधा का रहस्य-निरूपण

डा० वल्लभदास बिन्नानी 'व्रजेश', विद्या-वाचस्पति, कलकत्ता

वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्णचन्द्र की प्रियतमा, सर्व-श्रेष्ठ गोपी का नाम राधा है। उनके भौतिक जीवन की घटनायें नितान्त स्वल्प हैं। वे वृन्दावन के समीपस्थ बरसाने के अभरपति वृष-भानु नामक गोप की कन्या थीं। इनकी माता का नाम कीर्तिदा था। इनका जन्म भाद्रपद-शुक्ल-अष्टमी चंद्रवार को हुआ था। श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं में श्रीराधा का प्रथम मिलन, तदनन्तर विच्छेद और अनन्तर पुर्नमिलन सम्पन्न हुआ था। राधा का श्रीकृष्ण के लिये प्रेम सामाजिक बन्धन को उल्लंघन कर दिव्य-भाव में परिणत हो गया, जो अक्रूर के द्वारा श्रीकृष्ण के मथुरा ले जाने पर और भी बढ़ता गया।

श्रीकृष्ण के साथ गोपी-जनों का और श्रीराधा का पुनर्मिलन कुरु-क्षेत्र में हुआ, जहाँ सूर्य-ग्रहण के अवसर पर श्रीकृष्ण यादवों के साथ द्वारिका से स-दल-बल पधारे थे और नन्दराय अपने गोप, गोपी-जनों के सङ्ग वृन्दावन से आए थे, यही मिलन राधा के साथ श्रीकृष्ण का अन्तिम मिलन था और इसके अनन्तर कोई चर्चा मुख्यतया उल्लिखित नहीं है।

वृन्दावन की दिव्य-भूमि में पनपनेवाले वैष्णव सम्प्रदायों में राधा-वल्लभ, चैतन्य, वल्लभाचार्य तथा निम्बार्क मतों में—राधा-कृष्ण की युगल उपासना आज सर्वत्र प्रचलित है, परन्तु किस सम्प्रदाय में राधा का प्राकट्य सम्पन्न हुआ, इस तथ्य को इदमित्थ-रूपेण निर्णीत करना नितान्त कठिन है। वृन्दावन के रस-मय वैभव के प्रथम गायक कविवर जयदेव हैं, जिन्होंने द्वादश शती के अन्तिम चरण में अपने अलौकिक रस-मय काव्य 'गीत-गोविन्द' में राधा-कृष्ण की नित्य केलि का मधु-मय गायन किया। 'गीत-गोविन्द' से पूर्व-वर्ती संस्कृत-साहित्य में राधा-कृष्ण के दिव्य-प्रेम का संकेत मात्र यत्र-तत्र उपलब्ध होता है।

आचार्य आनन्द-वर्धन ने (नवमी शती के मध्य भाग में) 'ध्वन्यालोक' में दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जिनमें राधा-कृष्ण की केलि का स्पष्ट संकेत है (निर्णय-सागर सं०, पृ० ७७ तथा पृ० २१४)। 'ध्वन्यालोक' से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व निर्मित 'वेणी-संहार' नाटक की नांदी में कालिंदी के तट पर रास को छोड़कर आनेवाली केलि-कुपिता राधा का अनुगमन करनेवाले श्रीकृष्ण के अनुनय का विशद उल्लेख है। महा-कवि भास द्वारा प्रणीत 'बाल-चरित' नाटक में राधा के नाम का अभाव अवश्य है, परन्तु उस हल्लीसक (रास) का विशद वर्णन है, जिसकी राधा प्राण-भूत थीं। इस प्रकार जयदेव से पूर्व-वर्ती संस्कृत-साहित्य भी राधा के रमणीय रूप से परिचित है।

हाल द्वारा संगृहीत गाथा-छन्दों में निबद्ध 'गाहा सतसई' (गाथा सप्तशती) की अनेक गाथाओं में, जहाँ श्रीकृष्ण की बाल-लीला का सरस वर्णन है, वहाँ राधा भी प्रेम की प्रतिमा के रूप में अंकित की गई हैं। राधा के नाम से अंकित यह गाथा साहित्यिक दृष्टि से बहुत ही सुन्दर तथा सरस है। साहित्य-जगत् में राधा का निःसन्दिग्ध प्रथम उल्लेख इसी गाथा में उपलब्ध होता है। हाल शालि-वाहन के नाम से प्रथम शताब्दी में प्रतिष्ठानपुर में राज्य करते थे। फलतः राधा का साहित्य-जगत् में आविर्भाव प्रथम शताब्दी से पूर्व की घटना नहीं माना जा सकता।

'पुराण-साहित्य' में राधा के उदय तथा विकास की रूप-रेखा निश्चित की जा सकती है। श्रीमद्भागवत की रास-पञ्चाध्यायी (१०/३०/२४) में केवल प्रकारांतर से कृष्ण की परम प्रेयसी का नाम राधा संकेतित है। राधा नाम के विषय में स्पष्टोक्ति का अभाव क्यों है ? इसका उत्तर सहृदय व्याख्याकारों ने जो दिया है, वह रसियों के लिये हृदयावर्जक अवश्य है। इष्ट-वस्तु की सम्पत्ति गोपन से, छिपाने से ही सिद्ध होती है, जैसे कुम्भ-कार के आँवाँ में सिद्ध-पात्र। मिट्टी के बर्तनों के ऊपर मिट्टी का मोटा लेप लगाकर ही उसे आँवाँ में सिद्ध करते हैं। यदि असावधानी से कोई अंश आवरण से रहित हो जाय और भाप निकलने लगे, तो वह अंश कच्चा ही रह जाता है—पककर सिद्ध नहीं होता।

'विष्णु-पुराण' का रास-प्रसङ्ग भागवत के प्रसङ्ग की अपेक्षा मात्रा में न्यून है; परन्तु यहाँ भी राधा का नाम निर्दिष्ट नहीं है, केवल संकेतित ही है।

इस प्रकार प्राचीन पुराणों में राधा नाम का गुह्य संकेत ही है, स्पष्ट अभिधान नहीं। पद्म-पुराण (पाताल खण्ड) तथा ब्रह्म-वैवर्त-पुराण (कृष्ण-जन्म खण्ड) ही राधा-तत्व के उन्मीलन-कर्त्ता महनीय पुराण हैं। इन दोनों के विशिष्ट खण्डों में राधा की जीवनी, आविर्भाव, सौन्दर्य तथा प्रभाव का बड़ा ही साङ्ग वर्णन है। ये दोनों सम्मिलित रूप से राधा-कृष्ण के तत्वोन्मीलन के विश्व-कोश हैं।

वैष्णव उपनिषदों में से कतिपय उपनिषदों में राधा की महिमा वर्णित है। रूप गोस्वामी ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'उज्ज्वल-लोक-मणि' में लिखा है कि गोपालोत्तर-तापिनी उपनिषद् में राधा 'गांधर्वी' के नाम से विश्रुत हैं तथा 'ऋक् परिशिष्ट' में राधा 'माधव' के साथ कथित हैं।

आज उपलब्ध राधोपनिषद्, राधिका तापनीयोपनिषद्, साम-रहस्य उपनिषदों में राधा की महिमा प्रतिपादित है। परन्तु वैष्णव गोस्वामियों के ग्रन्थों में इनके उदाहरण और निर्देश का अभाव इनकी प्राचीनता सिद्ध करने में मुख्यतया बाधक है।

वैदिक संहिताओं में भी राधा शब्द सकारान्त राधास् तथा आकारांत 'राधा' के रूप में उपलब्ध होता है। 'राधास्' शब्द का बहुत प्रयोग 'ऋक् संहिता' में उपलब्ध है, 'राधा' का केवल दो-तीन बार।

'संसिद्धि' अर्थ में 'राध्' धातु से सुन् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न राधस शब्द निघण्टु (२/१०) में धन के नामों में पठित है। मेरी दृष्टि में राधः तथा राधा दोनों पक्षों की व्युत्पत्ति राध् वृद्धौ धातु से है, जिसमें 'आ' उपसर्ग के योग से 'आराधयति' क्रिया-पद निष्पन्न होता है। फलतः इन दोनों शब्दों का समान अर्थ है—'आराधना को प्रतीक'। पौराणिक राधा वैदिक राधस् या राधा का व्यक्तीकरण है। राधा पवित्र तथा पुण्यतम आराधना की प्रतीक है। आराधना की उदात्तता उसके प्रेम-पूर्ण होने में है। जिस आराधना में विशुद्ध प्रेम नहीं झलकता, जो उदात्त प्रेम के साथ सम्पन्न नहीं की जाती, वह 'सच्ची आराधना' कहलाने की अधिकारिणी नहीं होती। इस प्रकार राधा शब्द के साथ प्रेम के प्राचुर्य का, भक्ति की विपुलता का तथा भाव के उत्कर्ष का सम्बन्ध कालान्तर में जुटता गया और धीरे-धीरे राधा विशाल प्रेम की प्रतिमा के रूप में साहित्य तथा धर्म में प्रतिष्ठित हो गई।

राधा-कृष्ण का आध्यात्मिक तत्व पूर्णतया वैदिक है। श्रीकृष्ण शक्तिमान हैं तथा राधा उनकी शक्ति है। क्षीर में धवलता, अग्नि में दाहिका-शक्ति तथा पृथ्वी में गन्ध के समान शक्ति तथा शक्तिमान में अभेद-सम्बन्ध है। भगवान् श्रीकृष्ण अचिन्त्य अनन्त शक्तियों से सम्पन्न शक्तियों से युक्त हैं, परन्तु इनमें तीन शक्तियाँ ही मुख्य मानी जाती हैं—१ अन्तरङ्ग शक्ति (चित्-शक्ति अथवा स्वरूप-शक्ति), २ तटस्था (जीव-शक्ति), ३ बहिरङ्ग शक्ति (माया शक्ति)।

भगवान् के सच्चिदानन्द-विग्रह होने के हेतु उनकी स्वरूप-शक्ति एकात्मिका होने पर भी त्रिविधा होती है-(१) संधिनी, (२) संवित् तथा (३) ह्लादिनी (आनन्द का आश्रय लेकर वर्तमान होती है)। ह्लादिनी वह शक्ति है, जिससे भगवान् स्वयं आनन्द का अनुभव करते हैं और दूसरों को आनन्द का अनुभव कराते हैं। ह्लादिनी शक्ति विकास की चरम काष्ठा है। फलतः यह भगवान् की समस्त शक्तियों की पूर्णता की द्योतक है। इसीलिये यह सब शक्तियों में—तथा स्वरूप-शक्ति में भी मुख्य मानी गई है। राधा इसी आह्लादिनी शक्ति का नाम है। मधु में माधुर्य है, परन्तु मधु को उसका अनुभव नहीं होता। उसी प्रकार श्रीकृष्ण में आनन्द है, परन्तु उन्हें इसकी अनुभूति स्वतः नहीं होती। राधा ही वह अनुभूति-प्रदायिनी शक्ति है, जिसके द्वारा कृष्ण को अपने में विद्यमान नैसर्गिक आनन्द का अनुभव होता है। वे स्वयं आनन्द का अनुभव करते हैं तथा जीवों को वह आनन्द देते हैं। वही है राधा—सच्चिदानन्द भगवान् की ह्लादिनी शक्ति।

राधा 'महा-भाव'-स्वरूपा है। प्रेम का भाव, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग तथा भाव के रूप में क्रमशः उत्कर्ष पाता हुआ जिस विशिष्ट रूप में प्रतिष्ठित होता है, वह वैष्णव शास्त्र में 'महा-भाव' कहलाता है। यह प्रेम का चूडान्त विकास है। श्रीकृष्ण-विषयक प्रेम की अन्तिम कोटि 'प्रेमा' कहलाती है। जब भाव या रति चित्त को अच्छी तरह से कोमल बना देती है, चित्त चिकना हो जाता है, तब साधक में श्रीकृष्ण के प्रति अतिशय ममता उत्पन्न होती है। भगवान् में यही घनीभूत प्रेम 'प्रेम' कहा जाता है। इसी 'प्रेमा' का अभिधान 'महा-भाव' है। राधारानी यही महा-भाव-रूपा हैं। इस प्रकार शक्ति की दृष्टि से तथा प्रेम की दृष्टि से इन दोनों की चरम परिणति राधा में विद्यमान है।

ह्लादिनी शक्ति-रूपा श्रीराधा के साथ ही भगवान् नित्य वृन्दावन में नृत्य-लीला किया करते हैं। राधा को पाकर ही श्रीकृष्ण अपने यथार्थ आनन्द-रूप की अनुभूति करते हैं। राधा ही भगवान् तथा भक्तों के बीच मध्यस्थता करती हैं। एक ओर वे श्रीकृष्ण के आनन्द का विस्तार करती हैं, तो दूसरी ओर भक्तों के ऊपर भगवान् की करुणा को प्रवाहित करने में कारण बनती हैं। राधा-वाद के ये मुख्य तथ्य प्राचीन तन्त्रों में व्याख्यात शक्ति-वाद के अनुसार ही प्रस्तुत किए गए हैं। गम्भीरता से विचार करने पर यही सिद्धान्त ज्ञात होता है कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में जो शिव और शक्ति हैं, त्रिपुरा-मत में जो कामेश्वर और कामेश्वरी हैं, वे ही गौड़ीय वैष्णव-दर्शन में कृष्ण और राधा हैं।

दक्षिण भारत के वैष्णव मतों में भी राधा ही कहीं 'गोपी' के नाम से और तमिल देश में 'नप्पिन' के नाम से अपनी रसिकता का विस्तार करती हैं। समग्र भारत की प्रान्तीय भाषाओं में कृष्ण-चरित्र के कीर्तन-प्रसङ्ग में राधा की अनुपम सुषमा, दिव्य प्रेम तथा उदात्त आनन्द का सरस प्रतिपादन मिलता है, परन्तु राधा-लीला का कीर्तन ब्रजभाषा का तो सर्वस्व ही है। संस्कृत में जयदेव का 'गीत-गोविन्द' पदावली-साहित्य का प्रथम निदर्शन है। श्रीमद्भागवत की रस-मयी गीतियों से स्फूर्ति तथा प्रेरणा लेकर विद्यापति ने मैथिली में, चण्डीदास, गोविन्ददास तथा ज्ञानदास ने व्रज बोली में, अष्ट-छाप के सूरदास, नन्ददास आदि ने, हित-हरिवंश के द्वारा प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के राधा-वल्लभी कवियों ने तथा निम्बार्की कवियों ने ब्रज-भाषा में इस केलि की अमृत-मयी लीलाओं के चित्रण में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है तथा साहित्य को रसामृत से सिक्त बनाया है। तथ्य यह है कि राधा भारतीय भक्ति और अनुरक्ति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। यह भारतीय साधना और आराधना की चरम परिणति है। परमोत्कर्ष की दृष्टि से ऐसी अनुपम कल्पना संसार के इतर साहित्यों में खोज पाना दुष्कर है।

श्री जगन्नाथ पुरी : एक शक्ति-पीठ

डा० धरणीधर मिश्र, सुमण्डल, गंजाम (उड़ीसा)

नीलाद्रौ शङ्ख-मध्ये शत-दल-कमले रत्न-सिंहासनस्थं, सर्वालङ्कार-युक्तं नव-घन-रुचिरं संयुतं चाग्रजेन ।
भद्रायाः वाम-भागे रथ-चरण-युतं ब्रह्म-रुद्रेन्द्र-वन्द्यं, वेदानां सारमेकं स्व-जन-परिवृतं ब्रह्म-दारुं स्मरामि ॥

श्री जगन्नाथ महा-प्रभु हिन्दुओं के परमाराध्य देवता हैं। पुरी के श्री जगन्नाथ मन्दिर में तीन अर्द्ध-निर्मित मूर्त्तियाँ हैं। ये मूर्त्तियाँ क्रमशः श्री बलभद्र, सुभद्रा जी एवं भ० जगन्नाथ—कृष्ण जी की हैं। श्री बलभद्र जी का मुख श्वेत-वर्ण का है। दो बड़ी-बड़ी आँखें हैं और दो अर्ध-निर्मित भुजाएँ हैं। बहन सुभद्रा का मुख हरित कान्तिवाला है, दो बड़ी-बड़ी आँखें हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं, केवल कटि-देश है। भगवान् श्री जगन्नाथ जी का मुख काले रङ्ग का है। बड़े भाई श्री बलभद्र जी की तरह दो आँखें व दो अर्ध-निर्मित भुजाएँ हैं। इन तीनों मूर्त्तियों के अतिरिक्त पार्श्व में एक लकड़ी का खण्ड है, जिनमें भगवान सुदर्शन प्रतिष्ठित हैं।

श्री जगन्नाथ जी की पूजा सनातन काल से होती आ रही है। कहते हैं, लङ्का-विजय के बाद श्री रामचन्द्र जी ने अपने सह-कारियों को वर प्रदान किया, तब अङ्गद ने उनसे यह वर माँगा कि मैं पितृ-हत्या का प्रतिशोध आपसे लेता हुआ आपका भक्त बना रहूँ। इस वरदान के स्वीकृत होने के कारण द्वापर में अङ्गद ने जारा शबर बन जन्म लिया।

श्रीकृष्ण के कार्य की परिसमाप्ति में जब यदु-वंश का विनाश हो गया, तब एक दिन श्रीकृष्ण एक लता-कुञ्ज के बीच विश्राम कर रहे थे। उनके अरुण आभा वाले पाद-पद्म को हिरन के कान समझ कर जारा शबर ने शराघात किया, जिससे श्रीकृष्ण का दिव्य-लोक में प्रवेश हुआ। संस्कार के बाद उनके शरीर के अर्ध-दग्ध अवशिष्टांश को एक वृक्ष-शाखा में बाँधकर सागर में डुबो दिया गया। कई वर्षों बाद वह पिण्ड सागर के ऊपरी तल पर आ लगा।

कालान्तर में नील-गिरि का किरात-राज विश्वावसु इस पिण्ड का अंश लेकर 'नील-माधव' के रूप में पूजा करने लगा। उसी समय मालव-अधिपति इन्द्रद्युम्न भी जगन्नाथ के बड़े भक्त हुए। उन्होंने प्रभु की मूर्ति के अन्वेषण हेतु विद्यापति नामक ब्राह्मण से कहा। विद्यापति ब्राह्मण ने विश्वावसु की कन्या ललिता की सहायता से 'नील-माधव' का पता पाया। विद्यापति ब्राह्मण ने इनकी जानकारी राजा इन्द्रद्युम्न को दी। राजा ने जब अपने सैन्य-बल सहित विश्वावसु से 'नील-माधव' को प्राप्त करना चाहा, तब अचानक प्रभु अन्तर्ध्यान हो गये।

इस दुःख में राजा प्रायश्चित्त के लिए उद्यत हुए। तभी आकाश-वाणी हुई कि—'राजन्! दुःख की बात नहीं है। कुछ दिनों में समुद्र में एक तैरती हुई लकड़ी आयेगी, उसको लेकर तुम मेरी विग्रह-रचना करना। तब मैं तुम्हारे द्वारा पूजा पाने के लिए तैयार रहूँगा।'

इसके बाद जब वह तैरता हुआ लट्ठा आया, तब किरात-राज विश्वावसु की सहायता से मालव-राज इन्द्रद्युम्न उसको 'गुण्डिया मन्दिर' ले गए और वहीं विग्रह-निर्माण का कार्य शुरू किया। निर्माण के लिए वृद्ध कारीगर ने २१ दिन तक एक बन्द कमरे में कार्य करने की शर्त रखी थी। किन्तु राजा इन्द्रद्युम्न २१ दिन तक प्रतीक्षा न कर सके और १६ वें दिन ही दरवाजा खोल दिया। खोलने पर देखा कि सिंहासन में अर्ध-निर्मित मूर्ति-त्रय विराजित हैं।

श्रीजगन्नाथ - मन्दिर, पुरी में यही तीन अर्ध-मूर्त्तियाँ विराजित हैं। कहते हैं कि इन तीनों मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा का कार्य स्वयं पितामह ब्रह्मा ने किया था। शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव, जैन, बुद्ध आदि सभी मतावलम्बी इस विग्रह को अपना-अपना आराध्य बताते हैं।

श्री जगन्नाथ जी किस प्रकार शक्ति-तत्व वहन करते हैं, यह हम शाक्तों के लिए प्रधान विवेच्य विषय है। शाक्त-साहित्य के अनुसार उड्-देश शक्ति-पीठ है। यह पीठ 'उड्डियान-पीठ' के रूप में प्रसिद्ध है। 'श्यामार्चन-तरङ्गिणी' में उल्लेख है—**'उड्डियानः पूर्ण-गिरिः जालन्धरस्तथैव च; काम-रूप इति ख्यातं कौल-पीठ-चतुष्टयम्।'** 'कालिका-पुराण' भी कहता है—

'उड्रांशं प्रथमं पीठं द्वितीयं जाल-शैलजं, तृतीयं पूर्ण-पीठं तु काम-रूपं चतुर्थकं।'

इस प्रकार नीलांचल-स्थित श्रीजगन्नाथ धाम एक शक्ति-पीठ है। इसके सम्बन्ध में स्थानीय समाज में जन-श्रुति है कि, जब राजा इन्द्रद्युम्न दारु से विग्रहों का निर्माण करके उनको प्रतिष्ठा करने लगे, तब बहु-कल्पों से वहाँ प्रतिष्ठित देवी विमला जी ने इसके लिए अनुमति नहीं दी। अन्त में स्वयं ब्रह्मा जी ने मध्यस्थता की और निर्णय लिया गया कि—१ श्री विमला जी के 'शक्ति-पीठ' की प्रधानता बनी रहेगी, २ श्री विमला जी भी वहीं अवस्थान करेंगी, ३ श्री जगन्नाथ जी भैरव के रूप में प्रतिष्ठित होंगे, ४ श्री जगन्नाथ जी को नैवेद्य-सामग्री पहले श्री विमला जी को समर्पित होने के बाद ही 'महा-प्रसाद' कहलायेगी। तदनुसार निम्नोक्ति को मान्यता प्राप्त हुई—

उत्कले नाभि-देशश्च विरजा-क्षेत्रमुच्यते, विमला सा महा-देवी जगन्नाथस्तु भैरवः।

शक्ति-पीठ के नियमानुसार मन्दिर की परिकल्पना भी शक्ति-त्रिकोण के रूप में की गई है। एक कोण में देवी विमला, दूसरे में श्री महा-लक्ष्मी और नीचे तीसरे कोण में स्वयं श्री जगन्नाथ विराजमान हैं। ऊर्ध्व-मुखी शिव-त्रिकोण में वाम-कोण में श्री विश्वनाथ, दाहिने कोण में श्री वामन जी और ऊपर के कोण में श्री नृसिंह जी के विग्रह हैं। इस प्रकार षट्कोण-त्रिकोण के अनुसार गठित मन्दिर के परिसर में विराजित हैं जगन्नाथ, बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शन के विग्रह। यह चतुर्द्धा मूर्ति है। 'जगन्नाथ' के चार वर्ण भी चार मूर्तियों के ही द्योतक हैं। शाक्त-मतानुसार ये सब भगवती काली से उद्भूत हैं। 'महा-निर्वाण तन्त्र' की उक्ति है कि सुभद्रा भुवनेश्वरी हैं और जगन्नाथ 'दक्षिण-कालिका'। 'गायत्री-कल्प' में सुभद्रा को 'योग-माया' बताया है। बलभद्र तो शिव ही हैं। इस प्रकार प्रकृति-पुरुष का तत्व यहाँ पाया जाता है। मन्दिर में परब्रह्म-स्वरूपिणी सुभद्रा 'भुवनेश्वरी'-रूप में पूजा पाती हैं, तथापि वे भद्र-काली हैं।

श्री जगन्नाथ को 'कालिका' कहना सर्वथा सङ्गत है क्योंकि उन्हें नव-कलेवर प्रदान करने के लिए 'दारु' (लकड़ी) प्राप्त करने को निकटस्था देवी मङ्गला की अनुमति पहले लेनी पड़ती है। देवी मङ्गला स्वप्नादेश द्वारा 'दारु' की अवस्थिति बताती हैं और आहरण की अनुमति देती हैं। दारु-विग्रह की प्रतिष्ठा के समय अन्य तान्त्रिक कार्यों में 'काली-षोढा' की प्रधानता है।

जगन्नाथ जी का विग्रह कदाकार होने पर भी दर्शक उसकी अपरूप रूप-माधुरी को एकटक देखता ही रह जाता है। यही हमारा प्रच्छन्न देवी-तत्व है जैसे काली, तारा, छिन्नमस्ता, धूमावती आदि कराल, विकराल रूप वहन करती हुई भी देवी भुवनेश्वरी, कमला, मातङ्गी के समान सौम्या ही हैं, उसी प्रकार जगन्नाथ जी की कान्ति काली की तरह कृष्ण-वर्णा जो है, वह उनकी भव्यता का ही सूचक है। यथा—**प्रविशन्ति तथा काल्यां सर्व-भूतानि शैलजे !**

बड़े-बड़े उनके दो नेत्र शून्य और महा-शून्य के द्योतक हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में देवी काली की ही अवस्थिति महा-शून्य में रहती है, तब 'तारा' और 'भुवनेश्वरी' नामक शक्तियों का विकाश होता है।

उस आदि महा-शक्ति के महा-शून्य का सङ्केत जगन्नाथ की चक्राकार नेत्रों से मिलता है। इन्हीं में पुरुष और प्रकृति-तत्व सन्निहित हैं।पुरुष-रूप में पूजित होने पर भी जगन्नाथ जी में स्त्री की वेश-सज्जा और भूषणादि विद्यमान हैं। तन्त्रोक्त विधि से नैवेद्य का उत्सर्ग किया जाता है; पीठ-पूजा में 'ह्लीं' 'क्लीं' बीजों की प्रधानता है और पञ्च-मकारों का प्रावधान है। दिन में वैष्णवाचार और रात्रि में कौलाचार से पूजा होती है। प्रच्छन्नता के लिए अनुकल्प-विधि का आश्रय लिया जाता है। यथा--

१ मद्य के स्थान में : कांस्य-पात्र नारियल का जल, २ मांस के स्थान में : शाक-भाजी, ३ मत्स्य के स्थान में : अदरक के मीन-रूपी टुकड़े, ४ मुद्रा के स्थान में : शुभ्र फेन की आभावाले वर्तुलाकार ब्रैहेय और ५ पञ्चम के स्थान में : देवदासी-नृत्य तथा मन्दिर से अवस्थित मिथुन-मूर्तियाँ।

उक्त तथ्यों में स्पष्ट है कि श्रीजगन्नाथ मन्दिर में शाक्त-मत का ही प्राधान्य है। और श्री जगन्नाथ जी वस्तुतः 'कालिका-शक्ति' ही हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि श्रीजगन्नाथ जी की नैवेद्य-सामग्री श्री विमलाजी को समर्पित होकर—शक्त्युच्छिष्ट होने से ही 'महा-प्रसाद' बनती है। इस महा-प्रसाद का सेवन करने में जाति, धर्म और वर्णादि का विचार भी नहीं रहता। सभी उसे एक दूसरे से पाने के लिए अत्यन्त आग्रह दिखाते हैं। यह विशेषता केवल तन्त्र-शास्त्र द्वारा ही सम्मत है और 'भैरवी-चक्र' का स्मरण करानेवाली है—**प्रवृत्ते भैरवी-चक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः।**

श्री जगन्नाथ जी का महा-प्रसाद शाक्तों के वामाचार-पूजन-विधान से प्राप्त होनेवाला महा-प्रसाद ही है। अन्तर केवल इतना है कि शाक्तों का महा-प्रसाद परम गोप्य होने से दुर्लभ है, जब कि श्री जगन्नाथ जी की दया से उनका महा-प्रसाद सभी को सुलभ है।

प्रति वर्ष श्री जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा होती है। उसमें भी शक्ति-तत्व का प्राधान्य द्रष्टव्य है। यथा—१ **श्री जगन्नाथ-रथ** : नाम-नन्दीघोष, रथस्थ देवी--योग-माया शक्ति विमला, योगिनी शक्ति-कृष्णा, योगा, अनुज्ञा, प्रज्ञा, समिधा।

२ **श्रीबलभद्र-रथ** : नाम—लाल-ध्वज, शक्ति—तुङ्ग-भद्रा, योगिनी शक्ति—प्रभा, सुप्रभा, धात्री, विधात्री, नन्दा, सुनन्दा।

३ **श्रीसुभद्रा-रथ** : नाम-देव-दलन, ध्वज-देवी–त्रिपुर-सुन्दरी, रथस्था देवी–चामुण्डा, भद्रकाली, हर-चण्डी, वाराही, कात्यायनी, जय-दुर्गा, काली।

यह श्री-क्षेत्र सर्व-धर्म-समन्वय का क्षेत्र है और श्री जगन्नाथ जी सर्वोपास्य देवता हैं। तथापि यहाँ तान्त्रिक पद्धति की प्रमुखता है, इसमें सन्देह नहीं। महाष्टमी के निशार्द्ध-काल में श्री-मन्दिर के परिसर में विराजमाना श्रीविमला जी के पास ही पशु-प्रोक्षण होता है, जो विशुद्ध तन्त्र-परम्परा का ही द्योतक है। यही नहीं, काल-रात्रि, महा-रात्रि, मोह-रात्रि, दारुण रात्रि जैसे तन्त्रोक्त पर्वों को यहाँ पूर्ण मान्यता प्राप्त है। इन पवित्र मुहूर्तों में यहाँ विधिपूर्वक सदैव पूजन सम्पन्न होता रहा है। यथा—

दीपावली : काल-रात्रि-पूजा, शिव-चतुर्दशी : महा-रात्रि-पूजा, कृष्ण-जन्माष्टमी : मोह-रात्रि-पूजा और दुर्गा-महाष्टमी : पशु-प्रोक्षणादि विधान तथा दारुण-रात्रि-पूजा।

वैष्णवों के अनुसार भगवान् के शेषावतार श्रीकृष्ण जगन्नाथ जी के रूप में विद्यमान हैं। शाक्तों ने भी इसी मत को अपनाया है क्योंकि—'**श्रीकृष्णः कालिका साक्षात्।**' सप्तशती में भगवती ने स्वयं ही कहा है--**नन्द-गोप-गृहे जाता यशोदा-गर्भ-सम्भवा, ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचल निवासिनी।**

अतः श्री जगन्नाथ जी निश्चय ही श्रीकालिका-स्वरूप हैं और श्री-क्षेत्र एक शक्ति-पीठ है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

श्री-क्षेत्र और जगन्नाथ-तत्व

दरभङ्गा-राजवंश-सम्भूत स्व० श्री श्यामानन्दनाथ

श्री-क्षेत्र वस्तुतः क्या है ? श्री-क्षेत्र कहाँ है ? यह जानना आवश्यक है।

श्री-क्षेत्र में दो शब्द हैं--श्री +क्षेत्र। 'श्री' शब्द का अर्थ है—सम्पत्ति। 'श्री' नाम लक्ष्मी का है। सम्पत्ति-शक्ति की उपासना सभी करते हैं। जो दरिद्रता या अभाव को दूर करे, वह सम्पत्ति है। धन, रत्न इत्यादि को हम साधारणतया सम्पत्ति कहते हैं। पर क्या ये वस्तुतः हमारे अभाव को दूर करते हैं ? नहीं, कदापि नहीं। कारण धन - रूपी सम्पत्ति की प्राप्ति से चित्त की दरिद्रता या अभाव दूर नहीं होता अपितु और भी बढ़ता है। ज्यों-ज्यों धन आता है, त्यों-त्यों लालसा बढ़ती है। अतएव धन, रत्नादि को सम्पत्ति कहना निरर्थक या अयुक्त है।

प्रकृत सम्पत्ति वही है, जिसके मिलने से और किसी पदार्थ की लिप्सा नहीं रह जाती। गीता भी ऐसा ही कहती है कि 'जिस अवस्था का लाभ होने पर अन्य किसी पदार्थ के लाभ की इच्छा नहीं रह जाती और जिसमें अवस्थित रहने से भारी से भारी दुःख भी विचलित नहीं कर सकता', वही अवस्था प्रकृत सम्पत्ति है।

मन्त्र-योग में इस शक्ति का बीज-मन्त्र 'श्रीं' है। 'श्रीं' में 'श'+'र'+'ई' और अर्ध मकार है। इन वर्णों के क्रिया-योगात्मक अर्थ हैं—श=शिव अर्थात् प्राण (ये रुद्रास्ते खलु प्राणाः)। र=वह्नि या तेज, जो चक्षु प्रकाश-रूप है। ई=शक्ति और अर्ध-मकार=अर्ध-मात्रा या परा-शक्ति। इस प्रकार 'श्री' पद-वाच्य वही अवस्था है, जिसमें जीव अपने प्राण को शक्ति द्वारा चक्षु-स्थान में स्थिर करता है। ऐसा करने पर ही स्थिर प्राण महा-शक्ति का क्रिया-शील प्राण-शक्ति से ऐक्य हो पाता है। यही 'श्री'-अवस्था है। यह जिस स्थान में प्राप्त हो, वही 'श्री-क्षेत्र' है।

साधारणतया हम क्षेत्र का अर्थ खेत (क्षेत्र का अपभ्रंश) करते हैं, जहाँ अनाज आदि पैदा होता है। परन्तु नहीं। प्रकृत क्षेत्र जीव-शरीर है। गीता ऐसा ही कहती है—**'इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्र-मित्यभिधीयते'**।

साधक रामप्रसाद जी भी ऐसा कहते हैं--'**मन तुमि कृषि काज जान ना, ए मन मानव जमीन रहिल पतित आबाद करिले फल तो सोना**'। परन्तु हम सबके शरीर 'श्री-क्षेत्र' नहीं हैं। हम उस अवस्था तक साधन द्वारा पहुँचे कहाँ हैं ? जो पहुँचे हैं अर्थात् जिन्होंने उक्त श्री-अवस्था प्राप्त की है, उन्हीं के शरीर श्री-क्षेत्र हैं। मानव शरीर ही देवालय है, ऐसा सर्व-सम्मत शास्त्रीय सिद्धान्त है। इसी का चित्र यजुर्वेदीय आभास सहित वर्तमान बाह्य श्री-क्षेत्र के श्रीजगन्नाथ के मन्दिर में दिखलाया गया है।

श्री जगन्नाथ मन्दिर में तीन मूर्तियाँ हैं—१ श्री बलराम, २ श्रीकृष्ण और ३ श्री सुभद्रा जी। इन मूर्ति-त्रय की कल्पना में एक विशेषता है, जो अन्य मूर्तियों में नहीं है। प्रायः सर्वत्र शक्तिमान् की शक्ति के साथ ही कल्पना की गई है, परन्तु यहाँ बहिन का साथ है। ऐसा वैपरीत्य क्यों ?

वस्तुतः ये तीनों मूर्तियाँ जीव-शरीरस्थ शक्ति-शक्तिमान् द्वय और प्राण-शक्ति कुण्डलिनी की द्योतक हैं। आत्मा-रूपी जीव पुरुष अपनी सहजा अर्थात् बहिन के साथ एक ही शरीर में रहता है, परन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों में। तब प्रश्न होता है कि इनकी शक्ति या राधा कहाँ रहती है ? यह इनसे अभिन्न होकर इन्हीं में रहती है।

इस प्रकार प्राण कर्षण या प्राण कृष्ण और प्राण रमण या आत्मा राम के मध्य में कुण्डलो शक्ति है, ऐसा बलराम-कृष्ण-सुभद्रा त्रि-मूर्ति से बोध है। ये तीनों एक हैं। तात्पर्य तीनों ही ब्रह्म हैं।

कृष्ण है आकर्षण करनेवाला अर्थात् अपने में मिला लेनेवाला। कृष्ण पद 'कृष्' धातु से बना है। इसका कर्म है कृषि या खेतो। यह है प्राण-क्रिया या अजपा-जप क्रिया। इस अजपा-जप क्रिया की निवृत्तावस्था ही कृष्ण-पद वाच्य है—

कृषिर्भूर्वाचकः शब्दो नश्च निवृत्ति-वाचकः। तयोरैक्यं पर-ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधोयते ।।

प्राण रमण का नाम है बलराम, बलभद्र, हलधर इत्यादि। स्थिर प्राण हो बल है, जो स्थिर होकर अपने ही में रमण करता है, जिससे इसको आत्माराम कहते हैं। यह भो एक विशिष्ट अवस्था पद-वाच्य है। इसी की पर्याय-वाचक संज्ञा है बलभद्र अर्थात् श्रेष्ठ शक्ति-सम्पन्न। बलराम साधारण राम से भिन्न हैं, जिस प्रकार रामचन्द्र हैं। रामचन्द्र का अर्थ भी बलराम या बलभद्र है। भद्र और चन्द्र दोनों एकार्थ-वाचक पद हैं। जहाँ चन्द्र श्रेष्ठ-वाचक है, वहाँ भद्र भो श्रेष्ठ-वाचक है। इनका आयुध है हल, इसी से हल-धर या हलायुध भी इन्हें कहते हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या इनको तलवार आदि दूसरे शस्त्रों का अभाव था कि हल से लड़ते थे? यह राम या जीवात्मा की आत्मोन्नति करने का साधन है। हल से ही क्षेत्र-कर्षण अर्थात् खेत जोता जाता है। आत्मा इसी एक आयुध या साधन से बलभद्र हो सकता है और चैतन्य कुण्डली-शक्ति को साथ लेकर कूटस्थ प्राण पुरुष कृष्ण से एक हो जाता है। संक्षेप यह कि चित्र या मूर्ति उसो मुक्त आत्मा का द्योतक है, जिसने अपने क्षेत्र अर्थात् शरीर को श्री-क्षेत्र बना रखा है।

यहाँ पर एक विषय और भो उल्लेखनोय है। मूर्तियों में किसी के भी हस्त-पदादि अवयव नहीं हैं यह अयुक्त-सा जान पड़ता है। जिसके असंख्य बाहु, उदर, मुख, नेत्र आदि हैं, वह कैसे हस्त-पदादि रहित है, यह अनुमान नहीं किया जा सकता। समस्त ब्रह्माण्ड के हस्त-पदादि जिसके हस्त - पदादि हैं, वह ठूँठ से कैसे हो सकते हैं? हम तो हाथ-पाँव वाले हैं और हमारे भगवान् ठूँठ हैं, यह कैसी बात? यथार्थतः विचार किया जाय तो हस्त-पदादि-युक्त हम ही ठूंठ है। हस्त का एक नाम बाहु है। बाहु का अर्थ है, वहन करनेवाला। हम क्या वहन करते हैं? वहन करनेवाला पुरुष या वहन करनेवाली शक्ति तो कोई और ही है। यदि हमारे बाहु किसी भी वस्तु का वहन कर सकते! परन्तु ऐसा होना तो पूर्णतया असम्भव है। फिर हमारे पद या पैर को भी यही दशा है। प्रकृत पद हंस है—**'पदं हंसमुदाहृतम्'**।

हंस के न रहने से हमारे पद भी बेकार हो जाते हैं। ये स्थूल बाहु और पद अपनी-अपनी क्रियाओं के गौण कारण मात्र हैं। मूल कारण हंस अर्थात् प्राण-शक्ति है। यह भाव जगन्नाथ मूर्ति द्वारा रहस्य या निगूढ़-भाव से परिलक्षित किया गया है। यह संयमच्छलात्मक चित्रण है। तद्-व्यतीत कुछ भी नहीं।

अन्त में एक रहस्य और उल्लेखनीय है। जगन्नाथ मन्दिर के बहिर्भागों पर कुत्सित चित्रों का अंकन है, जिससे हम यह समझ सकते हैं कि मन्दिर अर्थात् देह-मन्दिर (**'देहो देवालयः प्रोक्तः'**) के भीतरी या अन्तर्मुखो भाव-समुदाय मन्दिर के भीतर चित्रित हैं। देह-स्थित इन्द्रिय-गण के बहिर्मुखी होने से इनके कार्य भी बहिर्मुखी हैं। ये बहिश्चित्र-समुदाय आत्म-रिपुओं के आसुरी भाव के परिचायक हैं। ये दोनों अन्तर्मुखी एवं वहिर्मुखो वृत्तियाँ या जगन्नाथ मन्दिर के चित्र सर्वथा उपयुक्त हैं। वे किसो प्रकार अनुचित नहीं है। इनसे शिक्षा मिलतो है। जिस प्रकार गुण का ज्ञान गुणी व्यक्ति से होता है, उसो प्रकार दोषी व्यक्ति से भी ज्ञान मिलता है। दोषों के ज्ञान से हम उनसे सावधान रह सकते हैं।

श्री चक्रराज का वर्णन

पं० ललिताप्रसाद जी शास्त्री आचार्य, दतिया, (म० प्र०)

श्री-चक्र के पूजन में दो आचार प्रसिद्ध हैं—१ समयाचार तथा २ कौलाचार। इस सम्बन्ध में 'सौन्दर्य-लहरी' (लक्ष्मीधर टीका) में कहा गया है कि समयाचार आन्तरिक पूजा है तथा कुलाचार बाह्य-पूजा है। श्री-चक्र को आकाश-चक्र भी कहा गया है। आकाश के दो भेद हैं—१ दहराकाश तथा २ बाह्याकाश। बाह्याकाश में भूर्ज-पत्र, चाँदी, सुवर्ण आदि में लिख कर श्री-चक्र का पूजन होता है। यही 'कौल-पूजा' है। दहराकाश में हृदय में ही श्री-चक्र का पूजन होता है—यही 'समयाचार' है।

आगे कहा गया है कि 'समयाचार' में त्रिकोण ऊर्ध्वमुखी होता है। कौल चक्र में त्रिकोण के मध्य में बिन्दु होता है और नौ त्रिकोण होते हैं। इसके बाद दोनों मतों में समानता है अर्थात् नौ त्रिकोण के पश्चात् अष्ट-दल पद्म, षोडश-दल पद्म तथा तीन मेखलायें और चतुर्द्वार-युक्त भूपुर-त्रय। यही श्री-चक्र का उद्धार है।

समयाचार में सदाख्य तत्व की पूजा सहस्त्र-दल कमल में ही होती है, बाह्य पीठादि में नहीं। समय-मतानुयायी योगीश्वर जीवन्मुक्त होकर आत्म-लीन हो जाते हैं। उन्हें बाह्य-पूजा की आवश्यकता नहीं होती। समय मत में मन्त्र का पुरश्चरण, जप एवं होम आदि की आवश्यकता नहीं होती।

श्री-चक्र-निर्माण के विषय में विद्यार्णव तन्त्र में कहा गया है कि श्री-चक्र-निर्माण के तीन भेद हैं—१ मेरु-पृष्ठ, २ कैलाश पृष्ठ, तथा ३ भू-पृष्ठ। मेरु-चक्र में 'संहार-क्रम' से पूजन नहीं होता है। इसमें 'सृष्टि-क्रम' से ही पूजन होता है। 'संहार-पूजन' कैलाश-पृष्ठ में उत्तम होता है। भू-प्रस्तार में 'स्थिति-पूजन' कहा गया है। 'स्थिति-क्रम' गृहस्थ के लिये, 'संहार-क्रम' संन्यासियों के लिये तथा 'सृष्टि-क्रम' ब्रह्मचारी एवं स्त्रियों के लिये माना गया है। रत्न-सागर में कहा गया है कि सुवर्ण में जीवन पर्यन्त, चाँदी में बीस वर्ष, तथा ताम्र में बारह वर्ष एवं भोज-पत्र में छः वर्ष तक पूजन का विधान है। श्री विद्यार्णव में कहा गया है कि स्फटिक में हमेशा पूजन होता है। स्फटिक के श्री-यंत्र को सर्वोत्तम माना गया है।

बिन्दु से अष्ट-कोण तक तीन चक्रों का नाम संहार है। दोनों दशार तथा चतुर्दशार ये तीनों चक्र स्थिति-संज्ञात्मक हैं। उसके ऊपर तीन चक्र सृष्टयात्मक है। रुद्रयामल में श्री-चक्र का उद्धार बताया गया है :—**"बिन्दु, त्रिकोण, वसु-कोण, दशार-युग्म, मन्वस्त्र, नाग-दल-संयुत षोडशारम्। वृत्त-त्रयं च धरणी सदन-त्रयं च श्रीचक्रमेतदुदितं पर-देवतायाः"**।

अर्थात् बिन्दु, त्रिकोण, अष्ट-कोण, दशार-युग्म, चतुर्दशार, अष्ट-दल, षोडश-दल, वृत्त-त्रय तथा भूपुर-त्रय यही पर-देवता का स्वरूप है। सुभगोदय ग्रन्थ में 'स्थिति-क्रम' का उद्धार दिया गया है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ में 'सृष्टि-क्रम' का तथा तंत्र-राज में 'संहार-क्रम' का उद्धार दिया गया है।

नित्योत्सव में श्रीविद्या के उपासकों के धर्म बताये हैं। जैसे किसी भी दर्शन की निन्दा नहीं करना चाहिये। अपने इष्ट-देवता के अतिरिक्त अन्य को श्रेष्ठ नहीं मानना चाहिये। योग्य शिष्य को ही रहस्य बताना चाहिये। हमेशा अपने मन्त्र का चिन्तन करना चाहिये। हमेशा 'शिवोऽहम्' की भावना करनी चाहिये। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य को दूर रखना चाहिये। स्त्रियों से द्वेष नहीं करना चाहिये। सर्वज्ञ गुरु की उपासना करनी चाहिये। गुरु-वचनों पर एवं शास्त्रों पर सन्देह नहीं करना

चाहिये। भोग-बुद्धि से रहित होकर कर्म करना चाहिये। अपने वर्ण एवं आश्रम के अनुसार कर्म करना चाहिये। पञ्चमकार की प्राप्ति न होने पर भी कर्म-लोप नहीं करना चाहिये। हमेशा निर्भय रहना चाहिये।

इसी ग्रन्थ में पूर्णता-प्राप्त साधकों के धर्म बताये गये हैं। उनके लिये सभी विषय हवि हैं। इन्द्रियाँ ही स्रुव हैं। परम शिव की शक्तियाँ ही ज्वाला हैं। स्वात्म शिव अग्नि हैं एवं स्वयं साधक होता है। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति ही फल है, अपने पारमार्थिक स्वरूप का लाभ ही लक्ष्य है। नित्योत्सव में उपासकों के और धर्म भी बताये गये हैं जैसे-ईख नहीं खाना चाहिये, सिद्ध द्रव्यों को निन्दा नहीं करना चाहिये, स्त्रियों को ताड़ित नहीं करना चाहिये, कुल-भ्रष्टों को संगति नहीं करना चाहिये, कुल-पुस्तकों की रक्षा करना चाहिये, आदि।

इस साधना में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध सर्वोपरि है। इस सम्बन्ध में श्रीविद्यार्णव में बताया गया है कि शिष्य को श्रद्धावान्, स्थिर-बुद्धि और जितेन्द्रिय होना चाहिये।

गुरु, मन्त्र और देवता में ऐक्य-भावना रखना चाहिये। गुरु के वचनों का पालन करना चाहिये। गुरु में मनुष्य-बुद्धि नहीं करना चाहिये, उनको शिव-स्वरूप ही समझना चाहिये। जो मनुष्य गुरु को मनुष्य समझता है, मन्त्र को अक्षर मात्र समझता है, प्रतिमा को शिला समझता है, उसको नरक की प्राप्ति होती है। शिव के रुष्ट होने पर गुरु रक्षा कर लेता है परन्तु गुरु के रुष्ट होने पर कोई रक्षा नहीं कर सकता। गुरु के कठोर वचनों को भी आशीर्वाद समझना चाहिये और उनकी ताड़ना को भी प्रसन्नता समझना चाहिये।

साधकों के कर्तव्यों का विवरण भी श्री श्री विद्यार्णव में दिया गया है, जैसे मन्त्र को गोपनीय रखना चाहिये। मन्त्रों को गुरु-मुख से ही प्राप्त करना चाहिये। गुरु-मुख से प्राप्त मन्त्र ही सफलता देते हैं। कुल-धर्म का पालन करना चाहिये। गुरु-पुत्र, वरिष्ठ साधक, कुल-शास्त्र, योगिनी, सिद्ध पुष्प, कन्या तथा स्त्री का सम्मान करना चाहिये, इनकी निन्दा नहीं करना चाहिये। कुल-वृक्षों के नीचे सोना नहीं चाहिये, कुल-वृक्षों को काटना नहीं चाहिये।

श्रीविद्या का दार्शनिक विवेचन भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। श्रीविद्या के साधकों को भगवती के दार्शनिक स्वरूप से भी परिचित होना चाहिये। यह विषय दुरूह है। गुरु-मुख से एवं अभ्यास के द्वारा इस विषय को समझा जा सकता है। यहाँ पर महर्षि पुण्यानन्द व नारद द्वारा विरचित 'काम-कला-विलास' ग्रन्थ के आधार पर दार्शनिक स्वरूप का विवरण दे रहे हैं।

भगवती त्रिपुर-सुन्दरी का श्री-चक्र के साथ तादात्म्य है। शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्व-मय समस्त संसार की उत्पत्ति, स्थित और लय पराम्बा भगवती की क्रीडा है। शक्ति विमर्श-रूपिणी है तथा परम शिव प्रकाश-स्वरूप है। आदि-शक्ति परा भट्टारिका भगवती त्रिपुर-सुन्दरी नित्यानन्द-मय हैं, न तो कोई उससे अधिक है और न समकक्ष। वह दृश्यमान् चराचर विश्व की जन्म-दात्री हैं। स्वयं प्रकाश-स्वरूप शिव भी इस विमर्श-रूपी आदर्श (दर्पण) में अपने आपके प्रतिबिम्ब को देखकर स्वरूप-ज्ञान प्राप्त करते हैं। उसी परा-शक्ति में शिव-शक्ति का ऐक्य है। शिव ज्ञान-स्वरूप हैं। शक्ति क्रिया-स्वरूप है। अकार विमर्श है और हकार प्रकाश है। इन दोनों के मिलने से 'अहं' पद ही इनका वाच्य है। महा-बिन्दु में परम शिव-शक्ति स्वरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित हो रहा है। श्वेत-बिन्दु शिवात्मक है। रक्त-बिन्दु शक्त्यात्मक है। रक्त और श्वेत बिन्दु के समागम से तीसरे मिश्र-बिन्दु का आविर्भाव होता है। यही अहं-मद है। रक्त-बिन्दु अग्नि-कला है। श्वेत-बिन्दु चन्द्र-कला है तथा मिश्र-बिन्दु सूर्य-कला है। ये तीनों

बिन्दु त्रिकोणात्मक हैं। इनसे तथा महा-बिन्दु से मिल कर काम-कला की अभिव्यक्ति होती है। जो काम-कला की श्री चक्र के क्रम से आराधना करते हैं, उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है। लाल बिन्दु से नाद की उत्पत्ति होती है, उससे आकाश, वायु-अग्नि, जल और पृथ्वी तथा समस्त वर्ण-माला की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार श्वेत बिन्दु से भी उत्पत्ति होती है। दोनों बिन्दुओं में अभेद है। जिस प्रकार दोनों बिन्दुओं में अभेद है, उसी प्रकार कादि तथा हादि दोनों विषयों में भी अभेद है।

वर्ण, पद एवं मन्त्र ये शब्दाध्व हैं तथा कला-तत्व और भुवन ये तीन अर्थाध्व हैं। इन्हीं से संसार की सृष्टि होती है। जिस प्रकार शब्द और अर्थ अभिन्न हैं, उसी प्रकार शिव-शक्ति का ऐक्य है। 'ऐं, क्लीं, सौः' इन तीनों बीजों के द्वारा क्रमशः उत्पत्ति, स्थिति और लय होती है। माता, मान तथा मेय अर्थात् परम-शिव, पञ्च-दशी विद्या एवं भगवती त्रिपुर-सुन्दरी ये तीनों समष्टि-रूप से निर्वाण-रूपी महा-बिन्दु में अवस्थित हैं। इसे ही 'अहं' कहते हैं, यही पर-ब्रह्म स्वरूप है।

आकाश का गुण 'शब्द' है। वायु में आकाश और वायु दोनों हैं। तेज में आकाश, वायु और तेज तीन हैं। जल में जल सहित चार हैं तथा पृथ्वी में पाँचों हैं। ये कुल मिलाकर पन्द्रह होते हैं। यही पंच-दशाक्षरी श्रीविद्या है। पंचदशी मन्त्र भगवती का सूक्ष्म शरीर है। इस महा-मन्त्र के हादि एवं कादि दो प्रधान भेद हैं। हादि मत में प्रथम कूट में पाँच स्वर-सात व्यंजन हैं। द्वितीय कूट में छः स्वर-आठ व्यंजन तथा तृतीय कूट में चार स्वर-छः व्यंजन हैं। यह हादि-विद्या लोपा-मुद्रा द्वारा उपासिता है। कादि-विद्या के प्रथम कूट में सात स्वर एवं पाँच व्यंजन हैं। अन्य कूटों में कोई भेद नहीं है। यह विद्या काम-राज उपासिता है।

परा-वाक् मूलाधार में शक्ति का नाद के रूप में प्रथमावतार है। इस रूप का अनुभव अन्तः-करण में ही होता है। यही परा-वाक् नाभि-चक्र में पश्यति, हृदय में मध्यमा एवं कण्ठ में वैखरी बन कर 'अ से अः' तक, 'क से त' तक, 'ठ से क्ष' पर्यन्त तीन खण्डों में परिणत है। श्री चक्र-राज इनका स्थूल-रूप है। नव-योन्यात्मक श्री चक्र का नवम आवरण बिन्दु-चक्र के मध्य में स्थित है। यही समग्र विश्व के विकास का मूल है। पर-ब्रह्म-स्वरूपिणी त्रिपुरा का यही प्रथम सगुण स्थान है। इससे त्रिकोण बनता है। इसके आगे वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका एवं परा-शक्ति के पाँच त्रिकोण शक्त्यात्मक हैं। इनकी स्थिति अधोमुख के रूप में है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया, शान्ता ये चार त्रिकोण शिवात्मक ऊर्ध्व-मुख हैं।

इस प्रकार संक्षेप में भगवती त्रिपुर-सुन्दरी एवं श्री चक्र-राज का वर्णन शास्त्रीय दृष्टि से किया गया है। यह साधना पुस्तकों से पढ़कर नहीं करना चाहिये। योग्य गुरु-परम्परा से ही प्राप्त कर साधना करना चाहिये। इसी में साधक का कल्याण निहित है।

[इस लेख में कुछ कथन भ्रामक हैं। विशेष कर 'समयाचार' और 'श्री यन्त्र' के सम्बन्ध में। विज्ञ पाठक उन्हें सहज ही समझ जायेंगे। 'समयाचार' के सम्बन्ध में शोधात्मक निबन्ध शीघ्र ही 'चण्डी' में प्रकाशित होगा।—सं०]

जप-यज्ञ

प्रेषक : पण्डित महावीरप्रसाद शर्मा, हावड़ा (वङ्ग प्रदेश)

श्री भागवत वचन है कि—'यज्ञानां जप-यज्ञोऽस्मि।' अर्थात् सब यज्ञों में 'जप-यज्ञ' श्रेष्ठ है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'जप' यज्ञ क्यों है? इसे जानने के लिए 'यज्ञ' क्या है, यह जानना आवश्यक है। विश्व-जन की सृष्टि-रक्षादि के लिए जो उत्तम है, वही 'विश्व-जनीन' कहलाता है। 'यज्ञ' में उसी विश्व-जनीनता का धर्म है। दूसरे शब्दों में जहाँ विश्व-जनीनता (विश्व का योग-क्षेम, श्रेय और प्रेय अथवा पोषकता) है, वहीं 'यज्ञ' है।

अथवा 'यज्ञ' शब्द के आदि में महा-वायु-रूप 'प्राण' का बीज 'य' है। इस बीज (प्राण-ब्रह्म) को 'जानकर' ('ज्ञ') जो क्रिया की जाती है, वही 'यज्ञ' है।

अब 'जप' शब्द को देखें। इसमें दो अक्षर हैं। आदि अक्षर 'ज' है। प्राण-सृष्टि में 'जात' होने से आदि (जनि), मध्य (जाति) एवं अन्त (जरा) की आकृति की सृष्टि होती है। यह आकृति सदैव शुद्ध सूक्ष्म न रहकर व्याजादि में भी वैरूप्य आदि में भी जाती है। इसीलिए 'जात'-रूपी प्राण में 'जन' की चार ग्रन्थियाँ हैं—१ जनि (मूल), २ जाति (मध्य), ३ जरा (अन्त) और ४ व्याज। महा-संवेगवान 'ज' अक्षर इन चारों ग्रन्थियों—१ जनि-ग्रन्थि, २ जाति-ग्रन्थि, ३ जरा-ग्रन्थि और ४ व्याज-ग्रन्थि का मोचन-कारक है।

'प' अक्षर से तीन परम कर्मों—१ पुनाति, २ पुष्णाति और ३ पाति—का बोध होता है। अर्थात् मूल को शुद्ध-रूप प्रदान करता है, मध्य का पोषण करता है और अन्त का पालन एवं रक्षा करता है, जिससे प्राण मूल-मध्य-अन्त सर्वतः कल्याण को प्राप्त होता है। अतएव 'ज' और 'प' रूपी 'जप' ब्रह्म का 'अधि-यज्ञ' स्वरूप है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में केवल नाद था। नाद से ही सकल की सृष्टि हुई है। यह नाद समस्त जड़ एवं चेतन में व्याप्त है। जप-विज्ञान मुख्यतः इसी 'नाद'-रूपी मन्त्र पर आधारित है। मन्त्र की बार-बार पुनरावृत्ति का ही नाम 'जप' है। अन्तर्निहित नाद का ही दूसरा नाम मन्त्र है, अतएव 'मन्त्र' को समझना आवश्यक है।

हमारी कर्मेन्द्रियों की शक्ति सीमित है। हम कानों से सुनते हैं परन्तु किसी एक सीमा तक ही। नाद इस सीमा तक ही नहीं है। नाद असीम है। सूक्ष्म-नाद यौगिक कानों को सुनाई देता है, परन्तु यह भी पूर्ण एवं अन्तिम नहीं है। नाद में अनेक शक्ति-तरङ्ग-प्रवाह हैं, जो विशेष-विशेष वस्तुओं के द्योतक हैं। ये शक्ति-प्रवाह ही उन-उन वस्तुओं के 'बीज-मन्त्र' हैं। इन मंत्रों में सर्जनात्मक शक्ति होती है। जैसे 'रं' अग्नि-तत्व का बीज-मन्त्र है, जो कि यौगिक कानों द्वारा ग्रहीत किया हुआ है। इस बीज-मन्त्र का साधक समीचीन रूप से जप करे, तो अवश्य ही यह अग्नि-तत्व की सृष्टि कर देगा।

हमारे द्वारा जो मन्त्र श्रवण किये जाते हैं, वे शुद्ध नहीं होते क्योंकि उन्हें हम जिन कानों से ग्रहण करते हैं, वे कान उनको उनके शुद्ध-स्वरूप में ग्रहण नहीं कर सकते। यह पहली विकृति है। दूसरे हम उनका शुद्ध-स्वर में उच्चारण नहीं कर सकते। यह दूसरी विकृति है। मन्त्रों में सर्जनात्मक शक्ति सुप्त रूप से विद्यमान रहती है, परन्तु हमारी उक्त विकृतियों के कारण शक्तियाँ सुप्त ही रह जाती हैं। प्रत्यक्ष फलीभूत नहीं होतीं। मन्त्रों की इस सुप्त-शक्ति को जागृत करना आवश्यक है और इसी लिये 'जप' की आवश्यकता है।

जप का कार्य है मन्त्रों की गुप्त एवं सुप्त-शक्ति को विमोचित कर जापक को उपलब्ध कराना। इसमें कठिनाइयाँ भी हैं। ये कठिनाइयाँ जप की पद्धति एवं मन्त्रों के स्वरूप, स्वभाव के कारण होती हैं। जप का प्रमुख उद्देश्य है, हमारे मानस-पटल पर जो परदा है, उसे दूर करना एवं हमारी मानसिक दृष्टि का समुन्नत विस्तार करना। हमारी इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्तियों को रोक कर, उनको अन्तर्मुखी करना।

'जप' की सफलता के लिए साधक को सर्व-प्रथम अपनी आन्तरिक अशुद्धता से मुक्त होकर 'निरपराध' होना होगा। दूसरे उसको ऐसे छन्द का अनुसरण करना होगा, जो उसकी साधना में स्थैर्य की स्थिति बनाये रखने में सहायक हो सके। बिना उपयुक्त छन्द के जप में उन्नति सम्भव नहीं है। तीसरे साधकों को कुछ बाधायें भी दूर करनी होती हैं। ये बाधायें हैं—(१) काल-गत, (२) देश-गत, (३) माध्यम-यन्त्र-गत एवं (४) भाव-गत।

पहली बाधा दूर करने के लिये साधक को साधना के लिये ऐसे समय का चयन करना होगा, जो उसको साधना में सहायक हो—यह है 'शुभ-वासना'। दूसरी बाधा दूर करने के लिये, उसे शान्त एवं योग्य स्थान का चयन करना होगा, जहाँ वह अपनी साधना शान्ति-पूर्वक कर सके—यह है 'शुभ-योग'। तीसरी बाधा दूर करने के लिये, उसे अपने मन को अपने कार्य से पूर्णतया युक्त करना होगा। यह हुआ 'शुभ-आग्रह'। चौथी बाधा दूर करने के लिये, उसे अपने आपको अपने उद्देश्य के अनुरूप बनाये रखना होगा—यह है 'शुभ-सन्धि'।

साधक को जप की यथार्थ पद्धति का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जप के तत्व, उपनिषद् भी जानना चाहिये। साधक को जप में रुचि, विश्वास एवं आन्तरिक श्रद्धा भी होनी चाहिये। श्रुतियाँ कहती हैं कि विद्या, श्रद्धा एवं उपनिषत् के द्वारा जप अधिक समर्थ होता है।

उपर्युक्त प्रकार से पूर्व तैयारी करके यदि साधक कुछ काल तक अखण्ड रूप से जप में प्रयत्नशील रहे, तो वह अनुभव करने लगेगा कि (१) वाणी (वाक्), (२) श्वास (वायु), (३) दृष्टि एवं (४) मन उसके अपने अन्तर के ये चार अशान्त-चंचल तत्व शांत हो रहे हैं।

साथ ही वह यह भी अनुभव करने लगेगा कि उसके अपने अन्तर के चार तत्व, जो पहले शिथिल या सुप्त अवस्था में थे, वे जागृत एवं कार्यकारी हो गये हैं। ये चार तत्व हैं—(१) कुण्डलिनी, (२) अनाहत शब्द-नाद श्रवण, (३) ज्योति-दर्शन एवं (४) आनन्दानुभूति-रस।

भैरव-सर्वस्व

श्री पीताम्बरा-पीठ द्वारा प्रकाशित २८० पृष्ठों का यह अनूठा ग्रन्थ यथा नाम तथैव है। भगवान् बटुक भैरव, काल-भैरव आदि विविध भैरव-स्वरूपों के सम्बन्ध में प्रायः समस्त ज्ञातव्य विषय इसमें संगृहीत हैं। सबसे बढ़कर बात यह कि इसमें १ भगवान् बटुक भैरव (पीठ-प्रतिमा), २ बटुक भैरव (अष्ट-भुजी), ३ बटुक भैरव(सात्विक), ४ बटुक भैरव (राजस), ५ बटुक भैरव (तामस), ६ काल-भैरव ७ महाकाल भैरव, ८ श्वेत भैरव—ये आठ रंगीन चित्र दिये गये हैं, जो अभूतपूर्व हैं। आवरण-पृष्ठ पर स्वर्णाकर्षण भैरव का आकर्षक चित्र है। इनके अतिरिक्त पूजन-सम्बन्धी विविध यन्त्रों के रेखा-चित्र भी दिये हैं। निस्सन्देह इस पुस्तक से श्री भैरवोपासना में साधकों को बड़ी सहायता मिलेगी। लेखक हैं पं० राधारमण दूर्वार, शास्त्री। मूल्य २१ रु० मात्र।

जिज्ञासाओं का समाधान

'कौल-कल्पतरु' चण्डी, वर्ष १९८६-८७ के अङ्क ११-१२ पृष्ठ ७ में 'श्री भानुप्रसाद जी ठाकुर' की 'श्री बगला-कल्पतरु' में प्रकाशित श्रीबगला-मन्त्र पर एक टिप्पणी प्रकाशित हुई है, जिसमें आपने मूल उद्धार के आधार पर ४९ अक्षरों का मन्त्र निकाला है। यथा--

ॐ ह्लीं ऐं श्रीं क्लीं कान्ते श्रीबगलानने मम रिपुं नाशय नाशय ऐश्वर्याणि देहि देहि शीघ्रं मनोवांछितं कार्यं साधय साधय ह्लीं स्वाहा ॥

मन्त्रोद्धार के साथ मन्त्र की अक्षर-संख्या का निर्देश न हो, तो यह निष्कर्ष निकालना कठिन होता है कि मन्त्र वास्तव में कितने अक्षर का होना चाहिये। किन्तु उक्त मन्त्र की अक्षर-संख्या का निर्देश उपलब्ध है, जिसके अनुसार मन्त्र में ४८ अक्षर हैं। इसके लिये 'श्रीबगलामुखी-रहस्यम्' के पृष्ठ २७८ से पृष्ठ २८३ तक वर्णित विश्वसारोद्धार-तन्त्रोक्त 'श्रीविश्व-विजय कवच' का अध्ययन करना होगा।

कवच के प्रारम्भ में उक्त मन्त्र का उद्धार भी है, जिसमें एक पाठान्तर है—रिपु : रिपून्। शेष वैसा ही है जैसा 'श्रीबगला-कल्पतरु' में प्रकाशित है। मूल उद्धार के आधार पर जो मन्त्र बनता है, वह ४७ अक्षरों का ही रहता है। यहाँ 'कान्ते' शब्द को मन्त्र में नहीं लिया जायगा, क्योंकि 'कान्ते' सम्बोधन का उपयोग श्री शङ्कर जी ने देवी (पार्वती) के लिए किया है। तब मन्त्र पूरा कैसे हो ? इसके लिए कवच के कुछ श्लोकों को उद्धृत करता हूँ। इससे मन्त्र का सही-सही उद्धार हो जाएगा--

शिरो मे पातु 'ॐ ह्लीं ऐं श्रीं क्लीं' पातु ललाटकम्।
सम्बोधन-पदं पातु नेत्रे 'श्रीबगलानने' ॥१॥
श्रुतौ 'मम रिपुं' पातु नासिकां 'नाशय-द्वयम्'।
पातु गण्डौ सदा 'मामैश्वर्याण्यन्तं' तु मस्तकम् ॥२॥
'देहि-द्वन्द्वं' सदा जिह्वां पातु 'शीघ्रं' वचो मम।
कण्ठ-देशं 'मनः' पातु 'वाञ्छितं' बाहु-मूलकम् ॥३॥
'कार्यं साधय-द्वन्द्वं' तु करौ पातु सदा मम।
'माया-युक्ता' तथा 'स्वाहा' हृदयं पातु सर्वदा ॥४॥
'अष्टाधिक-चत्वारिंशदण्डाढ्या' बगला-मुखी ॥

श्वेत पदों के अनुसार जो मन्त्र स्पष्ट होता है, वह इस प्रकार है—

'ॐ ह्लीं ऐं श्रीं क्लीं श्रीबगलानने मम रिपुं नाशय नाशय मामैश्वर्याणि देहि देहि शीघ्रं मनोवांच्छितं कार्यं साधय साधय ह्लीं स्वाहा ॥ ४८ अक्षर ॥

उक्त उद्धरण 'श्रीबगलामुखी-रहस्यं' के पृष्ठ २८० से लिये गए हैं। कवच के मूल पाठ के पूर्व उक्त मन्त्र भी दिया गया है, जिसमें उक्त स्पष्ट मन्त्र के अनुसार दो पाठान्तर हैं। १ रिपु : रिपून्, २ मामैश्वर्याणि : ममैश्वर्याणि।

मेरे अपने विचार से मूल उद्धार में 'ऐश्वर्याणि पदं च' के स्थान पर 'मामैश्वर्याण्यन्तं च' ऐसा संशोधन यदि कर लिया जाए, तो कोई संशय नहीं रह जाएगा। सम्भव है, मैं स्वतः भ्रमित होऊँ, ऐसी स्थिति में विद्वज्जनों से निवेदन है कि अपने विचार शास्त्रीय आधार पर प्रस्तुत करने की कृपा करें।

विन्दु

श्री 'अश्रुत', प्रयाग

वरदराज प्रभु की बात सुनकर मुझे विचार-मग्न होना पड़ा। उस दिन चक्रार्चन में चक्रेश्वर से अपनी प्रशंसा सुनकर उन्होंने कहा—"श्री गुरु की कृपा से मुझे थोड़ी-सी साधना के पश्चात् सूत्र-वत् उपदेश से सारे रहस्य प्रकट हो गए हैं। महाराज! विन्दु ही सब कुछ है, चाहे वह आकाश की परिधि की तरह हो या गेंद की तरह या स्थान मात्र।"

मुझे बचपन में पढ़ी हुई रेखा-गणित की परिभाषा याद आ गई—'जिसमें न लम्बाई हो, न न चौड़ाई हो, न ऊँचाई हो—केवल स्थिति मात्र हो, उसे विन्दु कहते हैं।" मैं तो विन्दु को मात्र रेखा-गणित की कल्पना माने बैठा था, परन्तु 'प्रभु' की बात ने मुझे विन्दु को त्रिपुरा का रूप समझने पर ही विवश कर दिया। विन्दु ही सृष्टि, स्थिति एवं संहार का कारण निरूपित होने लगा। विन्दु ही त्रिगुणात्मक है। इसी समय किसी साधक की यन्त्र-रचना की व्याख्या भी मस्तिष्क में कौंधी—

वैन्दवं चक्रमेतस्य त्रि-रूपत्वं पुनर्भवेत्।

पर विन्दु मेरे लिए रहस्य ही बन गया। अब तो जब भी बैठता हूँ, एकान्त पाता हूँ, विचार-मग्न होता हूँ। विन्दु के दर्शन होने लगते हैं। मुझे तो सृष्टि उसी से निकलती और उसी में समाहित होती हुई दिखाई देती है। कभी-कभी इसे मैं अपना मानसिक विकार भी समझने लगता हूँ, परन्तु जो घटना भगवती 'पाटन' के नगर पटना में मेरे साथ घटी, उसने मेरी जिज्ञासा और बढ़ा दी।

'चण्डी'-कार्यालय द्वारा आयोजित पटना के 'शाक्त-सम्मेलन' में सम्मिलित होने की, पता नहीं क्यों, मन में प्रबल इच्छा जाग्रत हुयी। इसी के वशीभूत हो १३ नवम्बर, १९८६ से आयोजित सम्मेलन में सम्मिलित होने हेतु मैं पटना के 'जयसरमिन' होटल में पहुँच गया। वहाँ पर पहुँचते ही 'विन्दु'-चक्र पुनः मेरे ऊपर प्रभावी हो उठा। लाल विन्दु (रजोगुणात्मक) से कभी बाबा श्री, कभी बप्पा श्री, कभी माई जी प्रगट होती हैं। बाबा श्री तथा बप्पा श्री मधुर मुस्कान के साथ सौम्य रूप से दर्शन देते हैं। जब माई जी का प्रगटीकरण होता है, तब तो मन भय से व्याप्त दिखाई देता है। परन्तु जैसे-जैसे विग्रह निकट आता जाता है, माई का त्रिशूल वाला हाथ अभय-मुद्रा में बदल जाता है। वे करुणा-मयी दृष्टि एवं मधुर मुस्कान से प्रसन्नता व्याप्त कर देती हैं। धीरे-धीरे श्रद्धा-वश अन्तर्दृष्टि श्रीचरणों पर जाती है। अब तीनों विग्रहों के स्थान पर पुनः विन्दु मात्र ही शेष रह जाता है। इसी प्रकार 'राष्ट्र-गुरु' आदि के भी विग्रह के प्रगटीकरण की क्रिया होती है।

मैं बार-बार सोचता हूँ कि यह क्या मन का विभ्रम है? विचार होता है कि इस सन्दर्भ में 'गुरु जी' से, 'श्री कापालिक' जी से या अन्य दिव्य साधकों से पूछूँ। पर प्रश्न ही, उन सबके सामने मुखरित नहीं हो पाता है। सभी अपने-अपने ढंग से सम्मेलन की सफलता हेतु व्यस्त हैं। क्रिया में व्यवधान करने का मन नहीं होता है।

पुस्तक-प्रदर्शनी के उद्घाटन के समय 'विन्दु'-चक्र पुनः सक्रिय हो जाता है। भगवती अन्नपूर्णा-स्वरूपा उद्घाटन के लिए तैयार हैं। चण्डी-कार्यालय से सम्बद्ध एवं अन्य प्रेमी-जन प्रार्थना में हैं। 'चण्डी' के मानद सम्पादक 'कुल-भूषण' पं० रमादत्त जी शुक्ल स्वस्ति-वाचन कर रहे हैं। इसी समय

मुझे 'विन्दु' पुनः दिखाई देने लगता है। एकाएक पं० गोविन्दशरण उपाध्याय के 'पोलेराइज्ड कैमरे' की क्लिक की ध्वनि से ध्यान भंग होता है। फोटो निकलने पर ठगा-सा रह जाता हूँ। चित्र के मध्य में रक्त-वर्ण वृत्त से आवृत्त 'विन्दु' दिखाई देता है। 'श्री उपाध्याय' जी एवं अन्य कुछ लोग प्रसन्न मुद्रा में इस ओर ध्यान देते हैं, परन्तु मैं 'वैज्ञानिक विधि' से इसकी खोज करता हूँ। इसकी कोई संरचना आस-पास दिखाई नहीं देती, न ही शीशे में प्रतिबिम्ब ही दिखाई देता है। मैं 'विन्दु' के रहस्य को जितना खोलना चाहता हूँ, यह उतना ही गहराता जाता है। 'विन्दु' तो अब मेरे लिए 'सिन्धु'-जैसा दिखाई देता है!

'विन्दु' के रहस्य-बोध हेतु मैं 'श्रीगुरु', श्री उपाध्यायजी एवं श्री मिश्र जी के पीछे-पीछे माई जी के स्थान 'श्यामा मन्दिर' तक चला जाता हूँ। श्री उपाध्याय जी स्थानादि का परिचय एवं 'माई जी' का परिचय आत्म-विभोर होकर देते हैं। वहीं 'साधक-मण्डली' श्रीगुरु-चतुष्टय और इष्ट का 'पूजन-तर्पण' करती है। श्री मिश्रा जी 'भगवती आद्या काली' के यन्त्र को प्रेम-पूर्वक देखते हैं। इसी समय श्री मिश्र जी एवं उपाध्याय जी का वार्तालाप 'चक्र' के मध्य योनि में 'विन्दु' या 'बीज' की स्थिति पर चलता है। मैं मन-ही-मन 'विन्दु' का रहस्य खुलने पर प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ, परन्तु कुछ ही देर पश्चात् वार्तालाप स्थगित हो जाता है। मैं सोचता हूँ, रहस्य तो रहस्य में ही निहित है। वह तो 'भुवन-मोहिनी' का खेल है। नेत्र अर्ध उन्मीलित हो जाते हैं। रहस्य-भेदन की उद्विग्नता शान्त हो जाती है। मुख से निम्न पंक्तियाँ स्वतः ही निकलने लगती हैं :—

किं किं दुःखं सकल-जननि ! क्षीयते न स्मृतायाम्।
का का कीर्तिः कुल-कमलिनि ! प्राप्यते नार्चितायाम् ।।

डा० कैलासनाथ काटजू की जन्म-शताब्दी

विगत १६ जून, १६८७ को देश के अन्यतम महा-पुरुष कैलासनाथ काटजू को जन्म-शताब्दी मनाई गई। देश के स्वाधीनता-संग्राम में आप अग्रणी रहे; कानून के क्षेत्र में आपने अनुपम यश अर्जित किया; केन्द्रीय रक्षा-मन्त्री, उड़ीसा और बंगाल के राज्यपाल तथा मध्य प्रदेश के मुख्य मन्त्री जैसे दायित्व-पूर्ण पदों का आपने वर्षों तक प्रशंसनीय रूप से निर्वाह किया। सबसे बढ़कर आपने निःस्पृह सच्चे देश-भक्त नेता का ऐसा आदर्श उपस्थित किया, जिसकी तुलना इने-गिने नेताओं से ही की जा सकती है।

आपने भारत की राष्ट्र-भाषा 'संस्कृत' बनाए जाने का प्रस्ताव ही नहीं किया था, उसके लिए भगीरथ प्रयत्न भी किया था। दुर्भाग्य से आंग्ल सभ्यता से प्रभावित नेताओं ने आपके आदर्श मार्ग-दर्शन को स्वीकार नहीं किया, अन्यथा आज देश जिस सर्वतोमुखी सङ्कट का सामना कर रहा है, उसकी नौबत ही न आती।

भारत सरकार ने डा० काटजू के सम्मान में ६० पैसे का एक रंगीन टिकट प्रचारित किया है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि डा० काटजू के व्यक्तित्व और कृतित्व का प्रभावी ढंग से आकाश-वाणी और दूर-दर्शन द्वारा व्यापक प्रचार किया जाय। उनकी निःस्पृह देश-सेवा, उनका सादगीपूर्ण जीवन, उनके आध्यात्मिक विचार, परिवार और समाज के प्रति उनका निरपेक्ष दृष्टिकोण—कितनी ही उनकी ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके उजागर होने से वर्तमान पीढ़ी को उचित दिशा निर्देश प्राप्त हो सकता है। क्या ही अच्छा हो कि देश के हितैषी महानुभावों का ध्यान इस ओर जाय और वे इस दिशा में कुछ कार्य करें। हम यहाँ डा० काटजू की पुण्य स्मृति में अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

ॐ ह्रीं

'पूजा-रहस्य'

ज्ञान-खण्ड

'पूजा' का महत्व

जो व्यक्ति 'पूजा' नहीं करते, उन्हें पूजा करने से पूर्व यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि पूजा क्यों करें ? 'पूजा' की आवश्यकता क्या है ? जो व्यक्ति 'पूजा' कर रहे हैं, उन्हें भी 'पूजा' का महत्व क्या है, यह जानना जरूरी है। अन्यथा पूजा के सम्बन्ध में नाना प्रकार के भ्रम हो सकते हैं और भ्रमित होकर असफलता को प्राप्त करते हुए वे पूजा के महत्व को भी झुठला सकते हैं।

संसार भावना-मय है

यह संसार भावना-मय है। जैसा आदमी सोचता है, वैसा ही संसार बन जाता है। कल्प-वृक्ष कहीं स्वर्ग में नहीं है। संसार ही कल्प-वृक्ष है। प्रत्येक व्यक्ति के पास वह शक्ति है, जिससे वह जैसा चाहे, बन जाय। प्रकृति में सब कुछ भरा पड़ा है। जो चाहे और जितना चाहे, ले ले।

'गीता' में भगवान् कृष्ण अर्जुन से यही कहते हैं—

यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अर्थात् जो जैसा चाहता है, वैसा बन जाता है। चाणक्य का प्रसिद्ध वचन है कि—

यादृशो भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

अर्थात् जैसी जिसकी भावना होती है, वैसी उसे सिद्धि प्राप्त होती है।

'योग-वाशिष्ठ' में महर्षि बशिष्ठ भगवान् राम को उपदेश देते हैं—

भावितं तीव्र-संवेगादात्मनः यत्तु देव सः। भवत्याशु हि महा-बाहो विगतेतर-संस्मृतिः॥

अर्थात् तीव्र संवेग के साथ जो अपने इष्ट-देव की भावना करता है, वह शीघ्र ही अन्य स्मृतियों से छूटकर उसी देव के समान बन जाता है।

दूसरे शब्दों में प्रकृति में एक अन्तर्निहित अलौकिक शक्ति छिपी है, जो सब जगह व्याप्त है। दृढ़ सङ्कल्प तथा अभ्यास से आवश्यक अलौकिक शक्ति इच्छानुसार आधिभौतिक रूप से घनीभूत हो विशेष रूपान्तर प्रस्तुत कर सकती है।

आधुनिक मनोविज्ञान भी आज इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है। उसके अनुसार आकाश-तत्व-रूपी 'ईथर' में सर्वदा, सदा, स्थायी, बृहत् स्पन्दन होता रहता है। ये स्पन्दन प्रबल सृजन, पालन और संहार-शक्तियों से सम्पन्न हैं। इन स्पन्दनों में रचनात्मक एवं संहारात्मक दोनों प्रकार के तत्व हैं।

रचनात्मक तत्वों में श्री, साहस, सफलता, स्वास्थ्य, सु-व्यवस्था और आनन्द-दायक शक्तियाँ भरी हैं। दूसरी ओर संहारात्मक तत्वों में दरिद्रता, दुर्बलता, हीनता, निष्फलता, अव्यवस्था, विक्षोभ-दायक शक्तियाँ भरी हैं।

मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है

मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता है। मनुष्य जिस तरह के स्पन्दनों का अपनी 'भावना' से—अपने आचरण के द्वारा आवाहन करते हैं, उसी प्रकार के तत्वात्मक आकार उनको घेर लेते हैं। अथवा मनुष्य जिस प्रकार के तत्व को चाहे, उसी प्रकार के तत्व (रचनात्मक या संहारात्मक) को अपनी 'भावनाओं' से परिचालित कर उन्हें अपने पास बुला सकता है।

प्रकृति में सब कुछ भरा पड़ा है। कण-कण में असीम का भण्डार है। जो जो चाहे और जितना चाहे, ले ले। यह भण्डार कभी खाली नहीं हो सकता है। आवश्यकता है तो बस, 'सद्-भावना' की और उसके लिए अभ्यास-विशेष की।

मनुष्य के लिए यह स्थिति वरदान भी है और कष्ट-कारक भी। अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता से वह चाहे, तो सद्-भावनाओं को ग्रहण करते हुए उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। इसके विपरीत पूर्ण स्वतन्त्र होते हुए भी असद्-भावनाओं के प्रभाव से वह पर-तन्त्र, दुःखी और असहाय भी बन सकता है।

आधुनिक समय में मानव-जाति की असहाय, पीड़ा-दायक स्थिति स्पष्टतः देखी जा सकती है। असद्-भावनाओं, सङ्कल्पों के कारण मानव-जाति का कठोर परिश्रम आज नष्ट होता हुआ दिखाई दे रहा है। सुख-भोग के विविध उपायों की उपस्थिति में, सद्-भावनाओं की अनुपस्थिति के कारण आज मनुष्य जितना दुःखी, दरिद्र और असहाय है, उतना कभी नहीं रहा। निश्चय ही यह अत्यन्त कष्ट-दायक स्थिति है और यदि ध्यान नहीं दिया गया, तो इससे सम्पूर्ण मानव-जाति का अस्तित्व ही सङ्कट-मय हो जाएगा।

'हिन्दू-धर्म' के अन्तर्गत सद्-भावनाओं की भूमिका

हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत ऋषियों ने प्रारम्भ से दृढ़ सद्-भावनाओं पर विशेष ध्यान दिया है। वैदिक साहित्य इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हमारे ऋषि प्राचीन काल से जीवन में सद्-भावनाओं के महत्व से भली-भाँति परिचित थे।

इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठ तमाय कर्मण आप्यायध्वमध्न्या इन्द्राय भागं प्रजावती-रनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघश ꣳ सो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥ (युजर्वेद 1/1)

भावार्थ—मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है? वेद उपदेश करता है कि हे मनुष्यों! अपने जीवन को सद्-प्रेरणा (इषे) और पराक्रम-रूपी ऊर्जा (ऊर्जे) के लिये धारण करो। तुम्हारी इन्द्रियाँ गति-शील (वायवः) हों, तुम्हें प्रकाश-स्वरूप सद्-भावनाएँ (सविता) अत्युत्तम कर्म के लिये प्रेरित करें। तुम्हारी इन्द्रियाँ अघ्न्या अर्थात् गौओं के समान रक्षा करने के योग्य हैं। कारण यह है कि यदि ये मर गयीं, तो जीवात्मा के लिये सेवनीय आनन्द, ऐश्वर्य आदि का भी होना कठिन हो जायेगा। इसीलिये, किसी चोर की भाँति अन्दर घुस आनेवाले दुर्भाव के विचार या सङ्ग से इन्हें दूषित न होने दो।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धसो अपरीतास उद्भिदः। देवा नो सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥ (यजुर्वेद २५/१४)

भावार्थ—हे साधक ! भद्र और उन्नति-कारक विचारों और कर्मों के मित्र बनो, जिससे जीवन में छल का अंश न हो। तुम्हारे पुरुषार्थ को दूसरे दबा न सकें और जब कभी आसुरी प्रवृत्ति उठ पड़े, तब भद्र-कामनायें मानो पर्दे को फाड़कर ऊपर उठ कर तुम्हारे बचाव के लिये प्रकट हो जायें।

हिन्दुओं के उपनिषद् आज भी संसार के सबसे प्राचीन और सर्व-श्रेष्ठ सद्-भावनाओं के भण्डार हैं। सम्पूर्ण मानव-जाति के इतिहास में सद्-भावनाओं का ऐसा संग्रह अभी तक दुबारा प्रस्तुत नहीं हो सका है। इसीलिए आज भी न केवल हिन्दू, अपितु सभी जाति-भाषा के सृजन-कार इनसे प्रेरणाएँ ले रहे हैं।

हिन्दुओं की 'पूजा' की पृष्ठ-भूमि—वेदोक्त सद्-भावनाएँ

वेद, उपनिषद् की भावनाएँ अपने-आप में अद्वितीय हैं। ये भावनाएँ हिन्दू-वाङ्मय के लिए 'महा-वाक्य' हैं। हिन्दुओं का सम्पूर्ण जीवन-दर्शन इन्हीं भावनाओं से प्रेरित है। हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत विभिन्न मत-मतान्तरों की छोटी-बड़ी क्रियायें सूक्ष्म-रूप में इन्हीं सद्-भावनाओं का पोषण करती हैं। उदाहरण के लिए उपनिषदों के कुछ प्रसिद्ध 'महा-वाक्य' देखिये। "तत् त्वमसि", "अयमात्मा ब्रह्म", "प्रज्ञानमानन्द ब्रह्म" एवं "अहं ब्रह्मास्मि"—आदि वाक्य मानव-जाति के लिए निश्चय ही "महा-वाक्य" हैं; जिस मानव ने इन सद्-भावनाओं को अपने मन में—हृदय में बसा लिया है, उसे अपने आपको जानने, देखने, पकड़ने के लिए फिर किसी बड़े भारी कौशल की आवश्यकता नहीं है। ये महा-वाक्य ही आगे चल कर हिन्दू-धर्म की विभिन्न क्रियाओं के आधार बने हैं। हिन्दू-धर्म में नाना क्रियाओं द्वारा इन्हीं भावनाओं का पोषण किया जाता है।

वैदिक-काल के बाद; हिन्दू-वाङ्मय में साधारण-से-साधारण मनुष्य के हित के लिए गूढ़ सद्-भावनाओं का सरल रूपान्तरण, महर्षि वेद-व्यास द्वारा 'पुराण' एवं भगवान् शङ्कर द्वारा 'तन्त्र-शास्त्र' के रूप में हुआ। दूसरे शब्दों में वैदिक युग के बाद 'पुराण' एवं 'तन्त्र-शास्त्र' द्वारा गम्भीर, अनुपम सद्-भावनाओं का सरल रूप सर्व-साधारण के लाभ के लिए प्रस्तुत हुआ। अभ्यास के द्वारा साधारण-से-साधारण ज्ञानवाला मनुष्य भी श्रेष्ठ गम्भीर भावनाओं का सम्यक् अनुशीलन कर सकता है। यह ध्यान में रखते हुए 'पुराण' एवं 'तन्त्र-शास्त्र' द्वारा ऐसी 'पूजा'-पद्धतियों का विकास हुआ, जिनमें आकर्षक क्रियाओं के अभ्यास के द्वारा श्रेष्ठ भावनाओं का पोषण सम्भव हुआ।

इस प्रकार हिन्दुओं की 'पूजा'-पद्धति और कुछ नहीं, वैदिक-युग की श्रेष्ठ, गम्भीर भावनाओं का सरल रूप में प्रस्तुतिकरण है, जिन्हें अभ्यास द्वारा कोई भी व्यक्ति समझ सकता है और लाभ उठा सकता है। 'पूजा' की इस पृष्ठ-भूमि को ध्यान में रखते हुए ही हमारे यहाँ 'पूजा' की तीन श्रेणियाँ (सीढ़ियाँ) भी घोषित हुई हैं। इन श्रेणियों को क्रम से अपनाकर कोई भो साधारण हिन्दू अपने जीवन को सार्थक कर सकता है।

हिन्दुओं की पूजा के तीन प्रकार—१ परा, २ पराऽपरा और ३ अपरा

हिन्दुओं की पूजा तीन प्रकार की है—१ परा (उत्तमा), २ पराऽपरा (मध्यमा) और ३ अपरा (अधमा)। 'मेरु-तन्त्र' में इन्हें क्रमशः १ शुद्ध, २ मिश्र और ३ गलित के नामों से कहा है।

श्रेष्ठ, गम्भीर भावनाओं का ज्ञान अभ्यास के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, आप सर्कस का तमाशा देख रहे हैं, वहाँ एक आदमी एक तार के ऊपर खड़ा है। उसे देखकर आप चकित हो जाते हैं। आप वैसा करने का साहस नहीं कर सकते। यद्यपि आपके अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा अन्तःकरणादि

सब उसके ही सदृश हैं, तथापि उस कर्म का अभ्यास न होने से आपका आत्म-बल उस कर्म के लिए कमजोर रहता है। हाँ, यदि आप कुछ काल तक उसका समुचित अभ्यास करें, तो आप भी वह कम कर सकेंगे। परन्तु यह अभ्यास क्रम से धीरे-धीरे ही करना होगा।

सद्-भावनाओं का अनुशीलन भी ऐसा ही है। वैदिक युग (सत्य-युग) में सम्पूर्ण वातावरण गम्भीर सद्-भावनाओं के धारण करने योग्य था। धीरे-धीरे वातावरण में अशुद्धता की वृद्धि हुई। फलतः सद्-भावनाओं के अनुशीलन के लिए क्रमशः अधम, मध्यम और उत्तम क्रमों की आवश्यकता हुई।

अपरा-पूजा (अधमा-पूजा) हिन्दुओं की पूजा की सबसे नीची श्रेणी है। इसमें अज्ञान की अधिकता रहती है, सद्-भावनाओं का अनुशीलन अत्यन्त बाह्य-रूप में होता है। जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता है, आत्म-बल भी बढ़ता है। गम्भीर सद्-भावनाओं की धारणा-शक्ति बढ़ती है और तभी द्वितीय श्रेणी 'पराऽपरा पूजा' का अधिकारी बना जाता है।

'पराऽपरा पूजा' मध्यम श्रेणी की पूजा है। इसमें सद्-भावनाओं का ग्रहण अन्तः (अन्तर्यजन) और बाह्य (बहिर्यजन) द्विविध रूप में होता है। इसके अभ्यास से विशुद्ध रूप में सद्-भावनाओं को ग्रहण करने योग्य बना जाता है। 'तन्त्र-शास्त्र' में ऐसे अधिकारियों को वीर-भाव की संज्ञा दी है। इस पूजा द्वारा भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में सद्-भावनाओं का स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों लाभ प्राप्त होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'पूजा-रहस्य' में हम मुख्यतः हिन्दुओं की पूजा के इसी स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

'परा-पूजा' हिन्दुओं की पूजा की उत्तमा श्रेणी है। इसमें प्रत्येक मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रिया द्वारा सद्-भावनाओं का सतत पोषण होता है। इसमें पूजा करनेवाला सद्-भावनाओं के अनुरूप दिव्य आकार ग्रहण कर लेता है। उसके जीवन की प्रत्येक क्रिया सद्-भावनाओं की अभिव्यक्ति बन जाती है और उसका अस्तित्व साक्षात् 'देवता'—'शिव' बन जाता है। पूजा की यह श्रेणी हिन्दुओं की सभी पूजा का लक्ष्य है।

हिन्दुओं की पूजा का सारांश

इस प्रकार संक्षेप में हिन्दुओं की पूजा कायिक, वाचनिक और मानसिक क्रियाओं का ऐसा समूह है, जिसके द्वारा हिन्दू-वाङ्मय की श्रेष्ठ सद्-भावनाओं का अनुशीलन-पोषण होता है। हिन्दुओं की पूजा में प्रत्येक व्यक्ति अपनी ज्ञानेन्द्रियों-द्वारा बोधित विषयों को परा-शक्ति-रूपी अपने इष्ट को समर्पित करता है और अपने को द्रष्टा मात्र समझते हुए सद्-भावनाओं के विविध आयामों से परिचित होता है। क्रमशः अभ्यास के द्वारा वह इसी जीवन में सभी ग्रन्थियों—बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

हिन्दुओं की पूजा को इस दृष्टि-कोण से देखने पर यह सिद्ध हो जाता है कि आज के मनुष्य की मनो-व्याधि के लिए यह सर्वोत्तम औषधि है। इसे ठीक रूप में अपनाकर, समझकर और अभ्यास करते हुए सर्व प्रकार की अशान्तियों के बीच मनुष्य अपना जीवन सार्थक कर सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पूजन-क्रियाओं का मनो-वैज्ञानिक पक्ष

[हिन्दुओं का पूजन-विधान निरर्थक क्रियाओं का संग्रह नहीं है। हमारी पूजा-पद्धतियों की प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य 'भावना-शुद्धि' है। आवश्यकता इस बात की है कि इन क्रियाओं के तात्पर्य को भली-भाँति समझकर इनसे लाभ उठाया जाय। प्रस्तुत निबन्ध में ब्रह्म-लीन स्वामी शाश्वतानन्द सरस्वती जी ने पूजन-क्रियाओं—१ वस्त्र-धारण, २ तिलक-धारण, ३ द्वार-देवताओं का पूजन, ४ विघ्नोत्सारण, ५ वास्तु-देवादि को नमस्कार, ६ दीप-स्थापन, ७ दीप-शिखा-स्पर्श, ८ विजया-ग्रहण, ९ भूत-शुद्धि, न्यास एवं आत्म-प्रतिष्ठा, १० मानस-पूजन के मनोवैज्ञानिक पक्ष को रोचक शैली में स्पष्ट किया है। आशा है कि जिज्ञासु बन्धु इसे ध्यान से पढ़ेंगे।—सं०]

मैं तुमसे पूछता हूँ—हाँ, तुमसे ! तुम केवल मेरे इन थोड़े से प्रश्नों का उत्तर दे दो।

मैं आधुनिक विज्ञान की प्रगति को अस्वीकार नहीं करता। मैं तो केवल यह कहता हूँ कि वैज्ञानिक उपलब्धियों के केवल गीत गाने से मुझे या किसी को कोई लाभ नहीं पहुँचने का। केवल उनके गीत गाने से क्या होगा ? आवश्यकता है, तो रहस्यों को समझकर उन्हें जीवन में उतारने की। उनसे लाभ उठाकर अपने जीवन को सँवारने की।

मैं पूछता हूँ—क्या आधुनिक विज्ञान का क्षेत्र शस्त्रास्त्र-निर्माण अथवा बाह्य लौकिक सुविधा-उत्पादन तक ही सीमित है ? क्या मनोविज्ञान आधुनिक विज्ञान का एक विशिष्ट अङ्ग नहीं है ?

मैं तुमसे पूछता हूँ कि क्या आधुनिक विज्ञान के विशिष्ट अङ्ग आधुनिक मनोविज्ञान ने 'ईथर'-तत्व में विद्यमान विचार-कम्पनों के अस्तित्व का पता नहीं लगाया है ? क्या आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने यह अनुभूति नहीं की है कि ये विचार-कम्पन प्रबल सृजन और संहार-शक्ति से सम्पन्न हैं ? क्या आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने यह कटु सत्य नहीं खोजा कि जितनी प्रबल एकाग्रता से इन विचार-कम्पनों को उत्पन्न किया जाता है, उतना ही महान् सृजन करने में ये समर्थ होते हैं ? क्या आधुनिक मनो-वैज्ञानिकों ने एक स्वर में यह स्वीकार नहीं किया है कि ये विचार-कम्पन ही मानव के भविष्य के निर्माता हैं एवं तीव्र संवेगावस्था में मनुष्य जो विचार करता है, वैसा ही वह हो जाता है ? क्या आधुनिक मनोविज्ञान ने आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व इतना उपलब्ध नहीं कर लिया था ?

अब मैं तुमसे पूछता हूँ कि पिछले १०० वर्षों से उक्त तथ्यों की जानकारी होते हुए भी क्या आधुनिक विज्ञान तीव्र संवेगावस्था को अपनी इच्छा से उत्पन्न करने का कोई उपाय खोज पाया है ? आधुनिक विज्ञान की भाषा में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, प्रेम, सुख या दुःख आदि को ही संवेग कहते हैं। क्या आधुनिक विज्ञान ने ऐसा कोई उपाय खोजा है, जिससे मनुष्य अपनी इच्छा से इतना सुखी या दुःखी हो जाय कि वह आत्म- विभोर हो जाय ?

अब थोड़ी मेरी प्राचीन बात सुन लो। मैं अपने शास्त्रों के अनुसार अपने पूजन-क्रम में क्या करता हूँ—

सर्व-प्रथम अपने दुनियादारी के कामों से निवृत्त होता हूँ। निश्चिन्त-मना किञ्चित् विश्राम करके 'स्नान' करता हूँ और लौकिक व्यवहार के वस्त्रादि त्याग कर; उनके स्थान पर 'विशष्ट वस्त्र', जो मैंने पूजा आदि के निमित्त निश्चित किये हुए हैं, पहिनता हूँ। स्नान करने से मानसिक स्फूर्ति और पवित्रता की जो स्वाभाविक भावना उत्पन्न होती है, उससे क्या तुम इन्कार कर सकते हो ?

अब रहे पूजा के विशिष्ट वस्त्र ! उनके पीछे एक तो वैसे ही 'ये पूजा के कपड़े हैं', ऐसी भावना के कारण पवित्र भाव है। फिर उनका विशिष्ट रङ्ग मन पर क्या प्रभाव डालेगा, यह तुम आसानी से समझ सकते हो।

विशिष्ट प्रकार के वस्त्र पहन कर जब हम अपने कपाल पर रक्त-चन्दन, श्वेत चन्दन, भस्म या सिन्दूर का 'तिलक' धारण करते हैं, तब एक तो तिलक की विभिन्न आकृतियाँ और दूसरे तिलक करने के विभिन्न द्रव्यों के प्रभाव के कारण हम दिव्य-भाव-सम्पन्न हो 'पूजा-कक्ष में प्रवेश' करते हैं।

पूजा-कक्ष के द्वार पर 'द्वार-देवताओं का पूजन' करता हूँ और उन्हें आदेश देता हूँ कि वे द्वार की सावधानी से रक्षा करें। 'द्वार-देवताओं' की द्वार-पाल के रूप में स्थिति को अपने मस्तिष्क में लाने से, क्या उस द्वार के भीतर के कक्ष के विषय में मेरे मस्तिष्क में स्वभावतः आदर-सम्मान का भाव उत्पन्न नहीं हो सकता ? और क्या जिस कक्ष में बैठ कर मुझे किसी मानस-वैज्ञानिक क्रिया का सम्पादन करना है, उस कक्ष के विषय में मेरे मस्तिष्क में आदर-सम्मान की भावना प्रथम उत्पन्न होना आवश्यक नहीं है ?

मैं तुमसे पूछता हूँ—जिस स्थान में तुम्हारी दिन-चर्या के सामान्य कार्य सम्पन्न होते हैं अथवा जिस स्थान पर तुम और तुम्हारे ज्ञान में अन्य व्यक्ति उच्छृङ्खलता करते रहते हैं, उस स्थान पर बैठकर क्या कोई अनुसन्धानात्मक क्रिया का सम्पादन कर सकता है ? क्या ऐसी क्रिया के सम्पादन हेतु तुम्हें ऐसे शान्त एकान्त कक्ष की आवश्यकता नहीं होती, जिसके विषय में तुम्हारे मस्तिष्क में ऐसा प्रभाव हो कि वहाँ जाते ही तुम्हारी मानसिक उच्छृङ्खलता स्वयं शान्त हो जाये ?

अब मैं विशिष्ट प्रकार से पूजन-कक्ष में प्रवेश करता हूँ। बाँयाँ अङ्ग संकुचित करके दाहिना पैर ही आगे बढ़ाता हूँ और भूतापसरण में तिल, सरसों और अक्षत का ही प्रयोग करता हूँ। 'विघ्नोत्सारण' आदि से, तुम यह बताओ, क्या मेरे मस्तिष्क पर यह प्रभाव नहीं पड़ेगा कि इस कक्ष में स्थित सम्पूर्ण राजस एवं तामस तत्वों का विलय हो गया है और शुद्ध सात्विक वातावरण ही अवशिष्ट रह गया है ?

विघ्नोत्सारण आदि के तुरन्त बाद मैं 'वास्तु-देवादि' को नमस्कार पुष्पाञ्जलि-अर्पणादि करता हूँ। क्या इसका प्रभाव मस्तिष्क पर यह नहीं पड़ेगा कि राजस, तामस तत्व विलय होकर यह पूजन-कक्ष अब क्रमशः देवताओं का आवास बनता जा रहा है ? मेरे चतुर्दिक् दिव्य समाज एकत्र हो रहा है ?

'दीप-स्थापन' कर 'दीप-नाथ' की पूजा के उपरान्त 'दीप-शिखा-स्पर्श' के द्वारा अपने अन्दर तैजस्-प्रवेश की भावना, 'आसन-शोधन' कर विशिष्ट सात्विक स्थान पर अपनी स्थिति से उत्पन्न मानसिक शान्ति, 'गुर्वादि-नमस्कार', से अपने चतुर्दिक् दिव्य अस्तित्वों की भावना, 'अग्नि-प्राकार सुरक्षादि मन्त्रों' द्वारा बाह्य लौकिक विचारों का मस्तिष्क से निराकरण एवं लौकिक विचारों से मस्तिष्क के सुरक्षित होने की भावना, 'सङ्कल्प-पाठ' से सात्विक प्रवृत्ति आदि कौन सी क्रिया ऐसी है, जो क्रमशः

मुझे इस लोक के नानात्व से हटाकर किसी अदृष्ट-पूर्व एवं जिसके महा-महान् होने के विचार हैं, ऐसे लोक की ओर अग्रसर नहीं करती ?

इसके बाद मैं पूजन में 'विजया' का सेवन करता हूँ। संविदा—विजया—भंग का मद (नशा) विस्मृति-कारक है। विजया के मद में यह विशेषता है कि मनुष्य सब कार्य सुचारु रूप से करता रहता है, साथ ही यह भ्रान्ति भी बनी रहता है कि कहीं वह कुछ भूल तो नहीं कर रहा है।

'विजया' के इस गुण को ध्यान में रखते हुए मैं तुमसे पूछता हूँ कि क्या विजया व्यक्ति के मस्तिष्क को सम्मुख कार्य के प्रति अधिक एकाग्र नहीं कर देगी ? विजया-ग्रहण से भूल के भय से मेरे मस्तिष्क में अन्य बाह्य विचार आना एकदम बन्द हो जाते हैं। केवल पूजन और पद्धति, देव-समाज और गुरु-समाज तथा पूज्य और पूजन-द्रव्य तक ही मेरी विचार-सीमा सीमित हो जाती है। मैं तुमसे पूछता हूँ कि नानात्व से हटकर एकत्व की ओर अग्रसर होने का इससे उत्तम भी क्या कोई पार्थिव साधन सम्भव है ?

पूजन में विजयादि का उपयोग कभी व्यसन नहीं बन सकता। वहाँ मादक द्रव्यों का उपयोग सीमित और संयमित है। सीमा और संयम से युक्त क्या महा-विष सोमल (संखिया, आर्सेनिक) का नित्य उपयोग विभिन्न रोग-नाश हेतु नहीं किया जाता ? जब शारीरिक रोग-निवृत्ति हेतु हम मात्रा और संयम के साथ सम्पूर्ण विषों को समयानुसार आत्म-सात् कर लेते हैं; तो मैं तुमसे पूछता हूँ कि मानसिक रोग (अनेकत्व-चिन्तन) के निराकरण को मैं मात्रा या संयम से युक्त किसी ऐसे द्रव्य का, जो घातक भी नहीं, क्यों नहीं प्रयोग कर सकता ?

'विजया-सेवन' के उपरान्त मैं 'भूत-शुद्धि', 'न्यास' एवं 'आत्म-प्रतिष्ठादि' करता हूँ। सेल्फ मेग्नेटिज्म या सेल्फ हिप्नोटिज्म के बारे में तो तुम जानते हो। पर क्या 'भूत-शुद्धि', 'प्राण-प्रतिष्ठा' या 'न्यास' आदि की क्रिया पर कभी तुमने ध्यान देने का कष्ट किया है ? क्या 'भूत-शुद्धि' के द्वारा मैं शाब्दिक आटो सजेशन्स से कई गुना आगे बढ़कर विशुद्ध मानसिक सजेशन्स अपने आप में ग्रहण नहीं करता ?

मैं तुमसे पूछता हूँ कि "मैं स्वस्थ हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं सशक्त हूँ, अमुक विकृति मेरे शरीर से निःसृत हो रही है, अमुक कुटेव का मैं त्याग कर रहा हूँ" आदि आधुनिक मनोविज्ञान में कथित शाब्दिक आटो सजेशन्स तो केवल रटने से मुझे स्वस्थ, सुन्दर, सशक्त, विकृति-हीन, व्यसन-रहित बना देंगे और यदि स्थूल शब्दों को रटने के स्थान पर सूक्ष्म मानसिक ध्यान द्वारा मैं देहस्थ सम्पूर्ण तत्वों का विलय, सम्पूर्ण दुःख-शोक-उद्वेग-अशान्ति-चिन्ता-रोग-विपत्ति के जनक के रूप में पाप-पुरुष का दाह, विमलीकरण और पुनः दिव्य तत्वों से देह-निर्माण देखता हूँ, तो क्या वह मेरी पोंगापन्थी है ?

मैं तुमसे पूछता हूँ कि 'मैं स्वस्थ हूँ' का आटो सजेशन और 'मैं स्वयं स्वास्थ्य हूँ' का आटो सजेशन अथवा 'मैं सुन्दर हूँ' और 'मैं सौन्दर्य हूँ' अथवा 'मैं सशक्त हूँ' और 'मैं स्वयं शक्ति हूँ'—इनमें कौन सा आटो-सजेशन अधिक प्रभावी तुम कह सकते हो ? पहिला है आधुनिक मनोविज्ञान का—सेल्फ मोनेटिज्म और दूसरा है मेरी पूजा का—'आत्म-प्राण-प्रतिष्ठा'।

मैं तुमसे पूछता हूँ कि मैस्मर को पढ़ते हुए तुम मानव हाथ की उँगलियों से विद्युत्-प्रवाह की सत्यता स्वीकार कर सकते हो, जो यह सूचित करता है कि उँगलियों से कोई विद्युत् जैसा प्रवाह निकलता है। किन्तु प्रत्येक उँगली के अग्र-भाग से प्रवाहित भिन्न-भिन्न प्रकार के विद्युत् - प्रवाह का

समुचित उपयोग करते हुए, जब ध्वनि की विशिष्ट मानस तरङ्गों को ईथर में उत्पन्न करते हुए मैं अपने शरीर में विच्छिन्न शक्ति में शरीर के प्रत्येक अङ्ग को उँगलियों के अग्र भाग से स्पर्श करते हुए समत्व उत्पन्न करने की चेष्टा करता हूँ, तो क्या यह अवैज्ञानिक आडम्बर मात्र है ? इसी क्रिया को तो मैं 'न्यास' कहता हूँ।

इन सब क्रियाओं को करते हुए इधर 'विजया-ग्रहण' का प्रभाव शुरू हो जाता है और मैं 'मानसिक-अर्चन' में तन्मय हो जाता हूँ।

आधुनिक मनोविज्ञान कहता है कि यत्किञ्चित् वस्तु जो सामने पड़े, हाथ में लो। उसे सूक्ष्म रूप से अच्छी तरह देखो। अब आँख बन्द कर लो। उक्त वस्तु को कल्पना (ध्यान ?) में देखने का प्रयास करो। ध्यान में इस वस्तु को देखते हुए, इसके प्रत्येक भाग का सूक्ष्म-तया अवलोकन करो। फिर आँख खोलकर, उस वस्तु के प्रत्येक भाग को देखो और देखो कि किस भाग के किस सूक्ष्म भाग को तुम ध्यान में देखना भूल गये। जब इस प्रकार का अभ्यास दृढ़ हो जाये कि तुम उक्त वस्तु के प्रत्येक भाग के सूक्ष्म-तम चिह्न को बिना भूले सम्पूर्ण देख सको, तो आगे का कार्य करो।

इस नीरस कल्पना-चलचित्र को मस्तिष्क में जमाने—ध्यान में देखने में आधुनिक मनोविज्ञान कहता है कि आश्चर्यजनक धारणा-शक्ति, मानसिक-शक्ति और एकाग्रता की वृद्धि होती है। इसके विपरीत हमारी 'पूजा' के अन्तर्गत 'मानस-पूजा' के ध्यान-चित्र का अवलोकन करिये—

एक कल्पनातीत सौन्दर्य-सम्पन्न परमानन्द-मय वातावरण से ओत-प्रोत विश्व-मोहक उत्ताल तरंगों से युक्त महान् सुधा-समुद्र है।

इस सुधा-समुद्र के मध्य शीतल, सुखद, शान्त, मधुर प्रकाश से आलोड़ित विशाल मणि-द्वीप है। मैं एक अद्भुत दिव्य स्वर्गीय नौका में से इस मणि-द्वीप की मणि-जटित आलोक-मयी भूमि पर उतरता हूँ। क्रमशः आगे बढ़ता हूँ। अलौकिक, चिर वसन्त-विकासित, फल-पुष्प-भारानत, नवीन कोंपलों से सुसज्जित, कोकिलादि मादक पक्षी-कलरव-मुखरित, शान्ति-प्रद शीतल, मन्थर एवं आत्म-विभोर-कारक मादक गन्ध को वहन करती हुई वायु से झूमती हुई विचित्र वन्य-भू में प्रवेश करता हूँ।

मैं बढ़ा जा रहा हूँ। अलौकिक वृक्षावलि झूम-झूम कर मेरे मार्ग पर एवं मुझ पर पुष्प-वर्षा करती जा रही है। मधुर-तम पक्षियों का कलरव किसी अलौकिक महिमा-मयी महा-भट्टारिका का गुणानुवाद सा करता मुझ पूजक के स्वागत-गायन में तल्लीन है। सामने देदीप्यमान चकाचौंध उत्पन्न करनेवाला विशाल 'लौह-प्राकार' है। मैं ध्यान से देख रहा हूँ, इस प्राकार की चारों दिशाओं में विशाल अभ्रक-सत्व-मय 'लौह-कपाटों' से युक्त चार द्वार हैं। मैं पूर्व द्वार से प्रवेश करता हूँ। यहाँ असंख्य विशालकाय प्रकृत वीर अनेकानेक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रक्षक-गण निवास करते हैं। रक्षकों की यह विशाल बस्ती लौह-मयी है। असंख्य रम्य वापी, कूप, तड़ाग, नद, नदी से सिञ्चित यहाँ की उवरा में अगणित वनस्पति नित्य प्रफुल्लित होती रहती है।

मैं आगे बढ़ता जा रहा हूँ। अनेक रक्षक-गण सामने पड़ने पर मुझे अभिवादन कर रहे हैं। द्वारस्थ रक्षकाध्यक्ष मेरे मार्ग-दर्शन को चल रहे हैं। और यह मैं दूसरे विशाल प्राकार के सम्मुख आ पहुँचा हूँ। यह प्राकार 'कांस्य' (काँसी) निर्मित है। पूर्व प्राकार से शत-गुण अधिक तेज इससे प्रस्फुटित हो रहा है। अद्भुत गोपुर से युक्त इसका द्वार अलौकिक कला का केन्द्र-स्थल सा है। मैं इस विशाल

कांस्य द्वार में प्रवेश करता हूँ। कल्पनातीत जातियों के अनेक वृक्ष, क्षुप, लता, गुल्म से सुसज्जित यहाँ की भूमि वन्य श्री की अलौकिक आभा बिखेरती हुई बरबस मन को अपनी ओर आकृष्ट करती है। कोकिल कुहुक रही हैं। मधु-मत्त भ्रमरों की गुञ्जार से दिगन्त व्याप्त है। स्निग्ध छाया से युक्त रस-पूर्ण फलों से लदे वृक्ष वायु के प्रत्येक झकोरे पर मद-मत्त से हुए झूम रहे हैं। रस-मयी कल-कल-नादिनी सरिताओं का नृत्य मन को बरबस मुग्ध किये ले रहा है।

मेरे सम्मुख मेरा लक्ष्य है। इसी से मैं अग्रसर हुआ जा रहा हूँ। यह सामने प्रकाण्ड 'ताम्र-प्राकार' आ गया। आहा, ताम्र-कोट में प्रवेश करते मन मूर्च्छित सा हुआ जा रहा है। यही तो कल्प-वृक्षों का वन है। स्वर्ण जैसे देदीप्यमान पत्रों और तप्त-काञ्चन वर्ण के पुष्पों से लदे रत्न-मय फल-पूर्ण ये अनन्त कल्प-वृक्ष कितने व्यवस्थित प्राकार से आरोहित हैं, जैसे किसी चतुर उद्यान-कार ने परिश्रम से इन्हें आरोपित किया हो। हाँ, इस प्राकार में ऋतु-राज वसन्त का नित्य साम्राज्य है। वसन्त ऋतु के अधि-देवता यहाँ नित्य निवास करते हैं। तभी तो उनकी प्रेयसियाँ ये मधु-श्री एवं माधव-श्री पुष्प-गुच्छकों से गेंद खेलती हुई क्रीड़ा-मग्न दिखाई देती हैं। मार्ग में पद-पद पर मधु-धार बहाते मधु-स्रोत महाराज वसन्त के ऐश्वर्य के द्योतक हैं। चतुर्दिक् मनोमुग्धकारी संगीत-लहरियाँ लहराती हुई गन्धर्व-पत्नियाँ अपने पतियों के साथ नित्य-क्रीड़ा में निमग्न हैं। और मैं आगे बढ़ता हूँ।

यह विशालकाय 'शीशे का कोट' सामने है। पूर्व-कोटों के अनुसार ही इसका दैर्घ्य अकल्प्य है। मैं द्वार-देश से प्रवेश करता हूँ। अहा, सन्तान-वृक्षों की ये वनाटवियाँ, कितनी सुखद शान्ति-प्रद है इनकी सघन छाया! 'ग्रीष्म' के अधि-देवता यहाँ के शासक हैं। शुक्र-श्री और शुचि-श्री के साथ यहाँ वे नित्य विहार-रत हैं। इस विशाल प्राकारान्तर प्रदेश का एक-एक कोना अनेक सिद्ध एवं देवताओं से भरा हुआ है। मैं बढ़ा जा रहा हूँ।

यह देदीप्यमान 'पीतल का प्राकार' सम्मुख है। इसमें प्रवेश करते ही महान् गड़गड़ाहट की ध्वनि सुनाई पड़ती है। दृष्टि को चकाचौंध करती विद्युत् बार-बार दमक रही है। यह वर्षा के अधि-देवता की विलास-भूमि है। इन्द्र-धनुष और मेघ ही इनका कवच है। मद-विह्वला हुई इनकी प्रियाएँ (वर्षा की शक्तियाँ)—नभ-श्री, नभस्य-श्री, स्वरस्या, रस्य-मालिनी, अम्बादुला, निरत्नि, अभ्रमन्ती, मेघयन्तिका, वर्षयन्ती, चिबुणिका, वारि-धारा और सम्पता—स्थान-स्थान पर जल-क्रीडा में तन्मय हैं। उछलते, कूदते, गम्भीर ध्वनि उत्पन्न करते अनेकानेक नदी-नाले पूरे वेग से बहे जा रहे हैं। चतुर्दिक् हरियाली का साम्राज्य है। अनेक देवता और सिद्धों का यह आवास-स्थल है।

और अब आगे यह 'पञ्च-लोह' का निर्मित 'परकोटा' आता है। अहा, स्थल-स्थल पर मन्दार की वाटिकाएँ, मन्दार पुष्पों से ढँकी सुरम्य वीथियाँ, पुष्पों और लताओं से सम्पन्न वन-राजि 'शरद' के अधि-देवता एवं उनकी दोनों शक्तियों इषु-लक्ष्मी एवं ऊर्ज-लक्ष्मी की मानों महिमा का विस्तार कर रही हैं। इस अलौकिक शारदीय सुषमा का पूर्ण आनन्द अनुभव करता हुआ मैं सामने स्थित 'रजत-प्राकार' के द्वार में प्रवेश करता हूँ। वहाँ उसी प्रकार पारिजात-वाटिकाएँ मुझे मिलती हैं। हेमन्त का यहाँ साम्राज्य है। अपनी शक्तियों सह-श्री और सहस्य-श्री के साथ वे यहाँ नित्य आनन्द-विहार करते हैं। और मैं आगे बढ़कर 'स्वर्ण' के 'पर-कोटे' में प्रवेश करता हूँ।

यहाँ की कदम्ब-वाटिकाएँ, शिशिर का साम्राज्य, तपः-श्री और तपस्य-श्री की अलौकिक आभा का अवलोकन करते हुये मैं द्रुत-गामी वाहन में आगे बढ़ रहा हूँ। आहा, यह कुंकुमाभा अरुण विशाल 'पुष्प-राग' मणि-निर्मित महान् पर-कोटा है। इसमें प्रवेश करते ही मैं एक अद्भुत लोक में पहुँच जाता हूँ। यहाँ की भूमि ही पुष्प-राग मणि-निर्मित ज्ञात होती है। वन-राजि, नद, नदी, नाले, कूप, बावड़ियाँ, तालाब सभी कुछ तो जैसे पुष्प-राग के ही बने हुए हैं। यहाँ तक कि यहाँ की वालुका भी पुष्प-राग की ही प्रतीत होती है। पुष्प-राग के जैसे कमलों पर पुष्प-राग के ही भृङ्ग गुञ्जार कर रहे हैं। पुष्प-राग की विविध वृक्षावलियों पर पुष्प-राग से ही अनेक प्रकार के पक्षी कलरव कर रहे हैं। मण्डप पुष्प-राग के निर्मित हैं, उनके स्तम्भ भी पुष्प-राग के ही हैं। विशाल अट्टालिकाएँ सम्पूर्ण पुष्प-राग से निर्मित हैं। राज-पथ, वीथिकाएँ, द्वार-तोरण, सम्पूर्ण कुंकुमाभा पुख-राज से जटित हैं। यहाँ आकर इस अलौकिक ऐश्वर्य-मय भूमि पर मैं इस अद्वितीय लोक में विहार करने की इच्छा करता हूँ।

पूर्व द्वार से मैं आया हूँ। यह सम्मुख स्वर्गों की अनेक अमरावतियों की स्पर्द्धा की वस्तु अद्भुत 'अमरावति नगरी' है। अनन्त ब्रह्माण्डों के अनन्त देव-राज इन्द्रों के अधीश्वर इन्द्र-देव यहाँ के स्वामी हैं। इस अकल्प्य ऐश्वर्य और अचिन्त्य सौन्दर्य से सम्पन्न महा-नगरी में सुख, सौन्दर्य, विलास और आनन्द चतुर्दिक् मुक्त विहार कर रहा है। यहाँ का सौन्दर्य और विलास वर्णन करने में वाणी मूक हो रही है। अनन्त ब्रह्माण्डाधि-नायक महान् इन्द्र-देव से स्वागत ग्रहण कर उनका अभिवादन कर मैं अपने मनोजव-वाहन को अग्नि-कोण की ओर बढ़ाता हूँ। यह 'अग्नि-लोक' है। स्वाहा और स्वधा नामक महा-राज्ञियों से युक्त अग्नि-देव यहाँ के अधिष्ठाता हैं। सम्पूर्ण नगर लोहित तेज से प्रदीप्त है। मैं आगे बढ़ता हूँ। दक्षिण में स्थित 'यम-पुरी' के द्वार पर पहुँचते ही अपने प्रधान मन्त्री चित्रगुप्त के साथ सूर्य-नन्दन यम को स्वागतार्थ प्रस्तुत पाता हूँ। यम-पुरी परम धार्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न अलौकिक शान्ति और संतोष की आवास भूमि है। आगे बढ़ने पर नैऋत्य कोण में महा-राज निऋति का उनके रक्ष-गणों के साथ 'राक्षस-पुरी' में स्वागत ग्रहण कर मैं और अग्रसर होता हूँ। सम्मुख पश्चिम में स्थित अलौकिक ऐश्वर्य की जन्म-भूमि 'वरुण-पुरी' है। महा-रानी वारुणी के साथ वरुण देवता यहाँ के अधिष्ठाता हैं। ऐश्वर्य की जननी महारानी वारुणी के कृपा-कटाक्ष से मद-मत्त बने यहाँ के निवासी अकथनीय आनन्द का अहर्निश उपभोग करते रहते हैं।

और अग्रसर होने पर यह वायु-कोण में स्थित 'वायव्य नगरी' है। महा-बलवान मरुद्-गण के सहयोग से वायु-देव यहाँ शासन करते हैं। वायु-देव का स्वागत-सत्कार ग्रहण कर उनसे विदा प्राप्त कर मैं अग्रसर होता हूँ। यह उत्तर में स्थित 'यक्ष-पुरी' है। महारानी ऋद्धि एवं महारानी वृद्धि के साथ महा-कुबेर मणिभद्र, पूर्णभद्र, मणिमान्, मणि-कन्धर, मणि-भूषण, मणि-माली और मणि-धनुर्धर नामक महान् सेना-नायकों की विशाल यक्ष-वाहिनियों के साथ यहाँ परम-भट्टारिका के महती महीयान् कोष की रक्षा में नित्य सन्नद्ध हैं। इनसे अनन्त ऐश्वर्य-सम्पन्न स्वागत-सत्कार प्राप्त कर मैं अग्रसर होता हूँ।

यह ईशान कोण में स्थित 'रुद्र-लोक' है। प्रज्ज्वलित नेत्रों से युक्त क्रोध-मय विग्रह धारण करनेवाले, पृष्ठ पर विशाल तरकस कसे, बाँयें हाथ में महान् पिनाक नामक धनुष को धारण करनेवाले, मुख से अग्नि की लपटें उगलते हुए, त्रिशूल-हस्त, विकट-आकृति अनेक रुद्र यहाँ के अधिवासी हैं। किन्हीं के दस-दस, बीस-बीस, पचास-पचास, सौ-सौ और हजार-हजार तक हाथ, सिर या पैर हैं। अनेक रुद्राणियाँ, अनेक मातृका-गण इनकी शक्तियाँ हैं। डामरी आदि गणों से युक्त, मुण्ड-माला-धारी, हाथ में

सर्प-कङ्कण, कन्धे पर सर्प-यज्ञोपवीत, अन्तरीय के स्थान में बाघम्बर और उत्तरीय के स्थान में गज-चर्म लपेटे, चिता-भस्म-विलेपित तनु, वीर-भद्र से युक्त रुद्र-देव यहाँ के स्वामी हैं। डमरु की ध्वनि से आकाश कम्पायमान है। त्रास-दायक विकट अट्टहास दिगन्त को विदीर्ण किये दे रहा है। महा-रुद्र से सम्मान पा मैं अग्रसर हो पुनः पूर्व दिशा में पहुँच गया हूँ।

यह सम्मुख 'पद्म-राग' निर्मित महान् परकोटा है। भीतर प्रवेश करते ही पूर्व-वत् भूमि, वृक्ष, आवास, नदी, नद, मार्ग, कूप, वापी सम्पूर्ण पद्मराग-विनिर्मित मिलते हैं। इस पद्म-राग पर-कोटे में चौंसठ महान् लोक हैं। अनेक आयुध-युक्ता वीर-वेष-धारिणी ६४ कलाएँ अपने - अपने लोक की अधिष्ठात्री हैं। मैं पूर्व द्वार से प्रवेश कर दक्षिण की ओर बढ़ता हुआ प्रत्येक लोक का निरीक्षण करता हूँ। प्रत्येक लोक की अधिष्ठात्री से सम्मान, स्वागत-सत्कार ग्रहण करता हुआ अपने मनोजवी वाहन पर बढ़ता जाता हूँ। क्रमशः मैं इन कलाओं के लोकों में पहुँचता हूँ——

१ पिङ्गलाक्षी, २ विशालाक्षी, ३ समृद्धि, ४ वृद्धि, ५ श्रद्धा, ६ स्वाहा, ७ स्वधा, ८ अभिख्या, ९ माया, १० संज्ञा, ११ वसुन्धरा, १२ त्रिलोक-धात्री, १३ सावित्री, १४ गायत्री, १५ त्रिदशेश्वरी, १६ सुरूपा, १७ बहु-रूपा, १८ स्कन्द-माता, १९ अच्युत-प्रिया, २० विमला, २१ अमला, २२ अरुणी, २३ आरुणी, २४ प्रकृति, २५ विकृति, २६ सृष्टि, २७ स्थिति, २८ संहृति, २९ माता, ३० सन्ध्या, ३१परमसाध्वी, ३२ हंसी, ३३ मर्दिका, ३४ वज्रिका, ३५ देवमाता, ३६ भगवती, ३७ देवकी, ३८ कमला-सना, ३९ त्रिमुखी, ४० सप्त-मुखी, ४१ सुरासुर-विमर्दिनी, ४२ लम्बोष्ठी ४३ ऊर्ध्व-केशी, ४४ बहु-शीर्षा, ४५ वृकोदरी, ४६ रथ-रेखा, ४७ शशि-रेखा, ४८ गगन-वेगा, ४९ भुवन-पाला, ५० मदनातुरा, ५१ अनङ्गा, ५२ अनंग-मथना, ५३ अनङ्ग-मेखला, ५४ अनङ्ग-कुसुमा, ५५ विश्व-रूपा, ५६ सुरादिका, ५७ क्षयङ्करी, ५८ शशि, ५९ अक्षोभ्या, ६० सत्य-वादिनी ६१ बहुरूपा, ६२ शुचि-व्रता, ६३ उदारा और ६४ वागीशी।

मैं देखता हूँ कि इनमें से प्रत्येक कला का मुख प्रज्ज्वलित जिह्वा से सम्पन्न है। मैं अनुभव करता हूँ कि प्रत्येक कला सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण जल को क्षण-मात्र में पी जाने में समर्थ है। अग्नि-सत्ता इनमें से किसी के सम्मुख नहीं ठहर सकती। पवन को स्तम्भित कर देना इनका खिलवाड़ है। प्रत्येक कला चाहे तो क्षण-मात्र में सम्पूर्ण विश्व को ग्रास बना लेने में समर्थ है। रक्त-नेत्र से युक्त धनुष-वाण धारण करनेवाली महा-शक्तियाँ नित्य युद्ध-लोलुप प्रतीत होती हैं। इनके दाँतों की कट-कटाहट से दिशाएँ वधिर हुई जाती हैं। प्रत्येक कला के पास अपने लोक में पिङ्गल-वर्ण, ऊर्ध्व-केश सैनिकों की सौ-सौ अक्षौहिणी सेनाएँ हैं। युद्ध की जिन सामग्रियों की कल्पना भी नहीं की जा सकती, उन्हें मैं यहाँ इन लोकों में देख रहा हूँ। अपने मनोजवी यान में शीघ्र ही इन चौंसठ लोकों का निरीक्षण करते हुए मैं पुनः पूर्व दिशा में आ पहुँचा हूँ।

सम्मुख 'गो-मेद-मणि' का यह ग्यारहवाँ परकोटा है। भीतर प्रवेश करने पर उसी प्रकार सब कुछ गोमेद-निर्मित पाता हूँ। जपा-कुसुम सी भूमि, रक्त-वर्ण मन-मोहक विचित्र-तम पक्षी-गण, कुंकुम-सा अरुण सबका विग्रह मुझे यहाँ भी सम्यक् निरीक्षण को अधिक ही विवश करता है। इस प्राकार के मध्य वत्तीस लोक हैं। प्रत्येक लोक की स्वामिनी चक्र धारण करनेवाली विकटास्या एक-एक शक्ति है। नित्य युद्ध-लालसा में ये उन्मत्त हैं। प्रत्येक के पास दश अक्षौहिणी सेना नित्य सन्नद्ध रहती है। यह महा-भट्टारिका भुवनेश्वरी की अन्तरङ्ग सेना है। पूर्व से दक्षिण की ओर बढ़ते हुये मैं क्रमशः इन महान् शक्तियों के लोकों में प्रवेश करता हूँ।

१ विद्या, २ ह्रीं, ३ पुष्टि, ४ प्रज्ञा, ५ सिनीवाली, ६ कुहू, ७ रुद्रा, ८ वीर्या, ९ प्रभा, १० ग्रानन्दा, ११ पोषिणी, १२ ऋद्धिदा, १३ काल-रात्रि, १४ महा-रात्रि, १५ भद्रकाली, १६ कपर्दिनी, १७ विकृति, १८ दण्डिनी, १९ मुण्डिनी, २० सेन्दु-खण्डा, २१ शिखण्डिनी, २२ निशुम्भ-शुम्भ-मथिनी, २३ महिषासुर-मर्दिनी, २४ इन्द्राणी, २५ रुद्राणी, २६ शङ्करार्द्ध-शरीरिणी, २७ नारी, २८ नारायणी, २९ त्रिशूलिनी, ३० पालिनी, ३१ अम्बिका ग्रौर पुनः पूर्व में ग्राकर ३२ ह्लादिनी के लोक का ग्रवलोकन करता हूँ ।

ग्रब यह 'हीरक' प्राकार सम्मुख है । इसमें प्रवेश करते ही तो मुझे बर-बस ग्रात्म-विभोर हो जाना पड़ता है । यहाँ की हीरक-मयी भूमि, कूप, वापी, तडाग, नद, नदी, नाले, वृक्ष, भवन ग्रादि ग्रलौकिक ग्रचित्य सौन्दर्य ग्रौर तेज से परिपूर्ण हैं । यहाँ ही तो मेरी ग्राराध्या की नित्य सेविकाएँ निवास करती हैं । ग्रनिन्द्य सौन्दर्य ग्रौर चिर-यौवन से युक्त विविध ग्राभूषणों से विभूषित ये परिचारिकाएँ कोई चित्र-कारिणी, कोई भूषण-धारिका, कोई पुष्पाभूषण-निर्मात्री, कोई ग्रङ्ग -सेविका के रूप में नित्य महा-भट्टारिका के निकट सम्पर्क का सौभाग्य प्राप्त करनेवाली हैं । इनके कटि-प्रान्त की किङ्किणियों का मधुर-मादक रव किन्नरों के कल-कण्ठ की झंकार को लज्जित कर रहा है । नूपुरों की ग्रात्म-विस्मृति-कारक ध्वनि रह-रह कर ग्रात्म-विभोर सी किये दे रही है । विद्युल्लता सी चपल ये सौन्दर्य ग्रौर यौवन के ग्रस्तित्वों को कृतार्थ करनेवाली परिचारिकाएँ जब एक ग्रोर से निकलकर दूसरी ओर ग्रदृश्य हो जाती हैं, तो विद्युत् सी कौंध जाती है । सेवा के ग्रभिमान-मद में मत्त हजारों दासियों से घिरी हुई महा-भट्टारिका भुवनेश्वरी की प्रमुख परिचारिका के रूप में मेरा परिचय क्रमशः १ ग्रनङ्ग-रूपा, २ ग्रनङ्ग-मदना, ३ सुन्दरी, ४ मदनातुरा, ५ भुवन-वेगा, ६ भुवन-पालिका, ७ सर्व-शिशिरा, ८ ग्रनङ्ग-वदना ग्रौर ९ ग्रनङ्ग-मेखला से होता है । इनके स्वागत-सत्कार को ग्रहण कर मैं सम्मुख स्थित 'वैदूर्य-मणि'-निर्मित प्राकार में प्रवेश करता हूँ ।

यहाँ सब कुछ वैदूर्य-मणि से निर्मित है । करोड़ों विमानों की ध्वनि से यहाँ दिगन्त व्याप्त है । यह महा-मातृकाओं का निवास-स्थल है । सामने ही पूर्व में मैं अपने को ब्राह्मी के लोक में पाता हूँ । अग्नि-कोण में यह माहेश्वरी का लोक है और दक्षिण में यह कौमारी का लोक है । नैर्ऋत्य कोण में वैष्णवी को प्रणाम कर पश्चिम में मैं वाराही के लोक में पहुँचता हूँ । आगे बढ़ने पर वायव्य कोण में इन्द्राणी, उत्तर में चामुण्डा और ईशान में महा-लक्ष्मी को अभिवादन कर सम्मुख 'इन्द्र-नील-मणि' निर्मित प्राकार में प्रवेश करता हूँ । इस महा-प्राकार के मध्य में मैं देखता हूँ कि सोलह आरोंवाले विशाल सुदर्शन-चक्र जैसा योजनों विस्तीर्ण इन्द्र-नील-मणि निर्मित एक कमल जैसा है, जिसके प्रत्येक दल पर एक महान् नगर सा बसा है । इन नगरों के मध्य में विशाल महल हैं, जिनमें उन-उन दलों की अधिष्ठातृ-देवियों का निवास है ।

पूर्व से दक्षिण की ओर मैं इन सभी नगरों में प्रवेश करता हूँ और उनकी अधिष्ठातृ देवियों का अभिवादन करता हुआ आगे बढ़ रहा हूँ । १ कराली, २ विकराली, ३ उमा, ४ सरस्वती, ५ श्री, ६ दुर्गा, ७ उषा, ८ लक्ष्मी, ९ श्रुति, १० स्मृति, ११ धृति, १२ श्रद्धा, १३ मेधा, १४ मति, १५ कान्ति और १६ आर्या के नगरों में मैं क्रमशः प्रवेश करता हूँ । ये महा-भट्टारिका भगवती भुवनेश्वरी की निजी सेनानियाँ हैं । मेघ जैसा इनका वर्ण है । ढाल-तलवार लिये अनेक शक्तियों से घिरी ये अधिकांश समय रथ पर आरूढ़ ही रहती हैं । अब मैं पुनः पूर्व में आकर इस पंद्रहवें 'मुक्ता'-प्राकार में प्रवेश करता हूँ ।

पूर्व प्राकार-वत् इसके मध्य में विशाल-मुक्ता-निर्मित अष्ट-दल कमल है। इसके आठों दल के विशाल नगरों की अधिष्ठात्रियाँ—१ अनङ्ग-कुसुमा, २ अनङ्ग - कुसुमातुरा, ३ अनंग-मदना, ४ अनंग-मदनातुरा, ४ भुवन-पाला, ६ गगन-वेगा, ७ शशि-रेखा और ८ गगन-रेखा परम-भट्टारिका जगदम्बा की नित्य-सहचरियाँ और सचिवाएँ हैं। माँ भुवनेश्वरी का मनो-गत भाव समझने में ये बड़ी चतुर हैं। जगदम्बा के अभिप्राय का ज्ञान रखनेवाली ये सम्पूर्ण कार्य-सम्पादन में नित्य तत्पर रहती हैं। इनका सश्रद्धा अभिवादन कर पूर्व-द्वार से मैं महा-मरकत-मणि के पर-कोटे में प्रवेश करता हूँ।

पूर्व-वत् इसके मध्य में कमल के स्थान पर एक महान् षट्-कोण महा-मरकत-मणि से निर्मित है। पूर्व-कोण में कमण्डलु, अक्ष-सूत्र, अभय और दण्ड धारण करनेवाले गायत्री-युक्त ब्रह्मा निवास करते हैं। सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, पुराण, स्मृति और ज्ञान यहाँ शरीर धारण कर निवास करते हैं। भगवती गायत्री-स्वरूपा व्याहृतियाँ भी यहाँ शरीर धारण कर निवास करती हैं। इन्हें प्रणाम कर नैर्ऋत्य कोण में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण करनेवाले भगवान् विष्णु का सावित्री-युक्त दर्शन करता हूँ। भगवान् विष्णु के सम्पूर्ण अवतार यहाँ निवास करते हैं। यही 'महा-विष्णु लोक' है। इसी महान् कोण में गो-लोक साकेतादि को भली प्रकार देखता हूँ।

सम्पूर्ण अवतारों से युक्त भगवान् विष्णु को अभिवादन कर वायव्य कोण में परशु, अक्ष-माल, वर और अभय धारण करनेवाले सरस्वती-युक्त भगवान् रुद्र के दर्शन कर कृतार्थ होता हूँ। दक्षिणा-मूर्ति आदि भगवान् रुद्र के भेद एवं गौरी आदि भगवती के सम्पूर्ण भेद यहाँ निवास करते है। चौंसठ आगम और सम्पूर्ण विज्ञान यहाँ देह धारण कर अवस्थित हैं।

भगवान् रुद्र को प्रणाम कर अग्नि-कोण में दोनों हाथों में रत्न-कलश मणि करण्डक लिये अनेक वीथियों और महा-लक्ष्मियों से युक्त कोष-रक्षक कुबेर को मैं प्रणाम करता हूँ। वरुण कोण में पाश, अंकुश, धनुष और वाण धारण करनेवाले रति-युक्त भगवान् कामदेव को मूर्तिमान सम्पूर्ण शृङ्गारों से युक्त दर्शन कर अभिवादन कर ईशान कोण में विघ्नों के शासक पाशांकुश-धारी पुष्टि-युक्त गणपति को प्रणाम करता हूँ। और अब सम्मुख स्थित 'प्रवाल'-निर्मित महा-प्राकार में प्रवेश करता हूँ।

यहाँ पाश, अंकुश, वर और अभय धारण करनेवाले पञ्च-महाभूतों के कारण-विग्रहों के उनकी पाँच शक्तियों हृल्लेखा, गगना, रक्ता, करालिका और महोच्छुष्मा—से युक्त नित्य नव-तारुण्य-युक्त दर्शन करता हूँ और आगे 'नव-रत्न-प्राकार' है। इस प्राकार में प्रवेश कर मैं देखता हूँ कि यहाँ सब कुछ 'नव-रत्न'-निर्मित है। सम्पूर्ण आम्नाय-देवताओं का यहाँ निवास है। नव-रत्नों के अनेकानेक भव्य भवन निर्मित हैं, जिनमें श्री देवी के सम्पूर्ण अवतार, दशों महा-विद्याएँ विराजमान हैं। सात करोड़ महा-मन्त्रों के सम्पूर्ण देवता यहाँ अपनी अङ्ग-रक्षक शक्तियों, वाहनों और भूषणों से युक्त निवास करते हैं।

इस नव-रत्न-मय भवनावलियों के आगे यह विशाल 'चिन्तामणि-निर्मित मन्दिर' है। इस मन्दिर की प्रत्येक वस्तु चिन्तामणि-निर्मित है। सूर्य, चन्द्र और विद्युत् से प्रभा-वान् चिन्तामणि पाषाण के बने हजारों खम्भे इसमें लगे हैं, जिनकी प्रभा से आँखें चौंधियाई जा रही हैं। यहाँ की शोभा केवल ध्यान में दर्शनीय मात्र है। शब्दों से उसका वर्णन उसकी हीनता का ही द्योतक है।

चिन्तामणि-मन्दिर में प्रवेश करने के साथ ही मैं शुद्ध पर-शिव रूप में परिवर्त्तित हो जाता हूँ। और यहाँ आकर मैं क्रमशः भगवती भुवनेश्वरी के शयन-कक्ष की ओर अग्रसर होता हूँ। प्रातः समभ्यु-त्थित अनन्त ब्रह्माण्डेश्वरी के अलस विग्रह के दर्शन कर कृतार्थ होता हूँ। पुनः वर्णनातीत ऐश्वर्य से युक्त

क्रमशः महा-महा-भट्टारिका का चौंसठ उपचारों से पूजन करता हूँ। एक-एक उपचार को समर्पित करते हुए प्रत्यक्ष ब्रह्मानन्द की अनुभूति कर कृत-कृत्य होता हूँ। सम्पूर्ण ६४ उपचारों को अर्पित करते हुए मुझे इस मानसिक पूजा में दो घण्टे का समय लगता है। सब मिला कर कम-से-कम तीन घण्टे में मेरी यह मानसार्चा पूर्ण होती है। मेरी धर्म-पत्नी इस समय मधुर कण्ठ से सुन्दर पद्यों से रुक-रुक कर प्रत्येक स्थान का वर्णन एवं प्रत्येक उपचार का चित्र उपस्थित करते हुए विशद मानस-पूजा का पाठ करती है और मैं उन पद्यों के अनुरूप दृश्य ध्यान में देखता हुआ परमानन्द में तन्मय हुआ रहता हूँ।

मैं तुमसे पूछता हूँ कि——क्या आधुनिक मनोविज्ञान में कथित कल्पना-चित्र इस मानस पूजा के पासंग के बराबर भी ठहर सकता है?

मैं तुमसे पूछता हूँ——कि क्या तुम कल्पना कर सकते हो कि इस तीन घण्टे की मानस-पूजा के उपरान्त मेरी मानसिक स्थिति क्या होगी?

और इसी मानसिक स्थिति में मैं द्रव्य-शोधन और पात्रासादन प्रारम्भ करता हूँ। पात्रासादन, गुरु-मण्डलार्चनादि के उपरान्त बाह्य-पूजा करता हूँ। इस समय भी मेरी धर्म-पत्नी सहयोग-पूर्वक प्रत्येक उपचार का समर्पण मधुर कण्ठ से बोलती रहती है। मैं तुमसे पूछता हूँ कि—क्या मानस-पूजा से परमानन्द और परमैश्वर्य में ओत-प्रोत हुए मेरे मानस का——बाह्य-पूजा द्वारा अन्तर्बाह्य रूप से एकाकार होना अस्वीकार करने का तुम साहस कर सकते हो?

मैं तुमसे पूछता हूँ कि——इस समय जिसको मैं प्रत्यक्ष अखिल ब्रह्माण्डेश्वरी के रूप में देखते हुए पूजा करता हूँ, वह कौन है? क्या सूक्ष्म रूप से मेरे मस्तिष्क में स्थित यह विचार कि वह और कोई नहीं मेरी धर्म-पत्नी ही है, कभी निकल सकता है? और यदि मेरी पत्नी अखिल-ब्रह्माण्डेश्वरी, भुवनेश्वरी है, तो मैं कौन हूँ? मैं उस मानसिक स्थिति में ब्रह्माण्डेश्वर, भुवनेश्वर को छोड़ कर और क्या हो सकता हूँ? मैं तुमसे पूछता हूँ कि—क्या इस पूजन से मेरी तत्कालीन "तत् त्वमसि", "अहम् ब्रह्मास्मि," अथवा "शिवोऽहम्" की भावना दृढ़-तम नहीं हो जाएगी?

मानव-जीवन का ध्येय—'भाव-शुद्धि'

मनुष्य-जीवन का ध्येय विषय-मार्ग (वस्तुओं का भोग) नहीं है। विनाश-शील मनुष्य-शरीर से "अविनाशी-स्वरूप" (अर्थात् रूपातीत और गुणातीत अवस्था) की प्राप्ति कर लेना ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है।

उक्त ध्येय तक पहुँचने के लिये हमें अपने समस्त जीवन को "ईश्वर-पूजन-स्वरूप" बनाना पड़ेगा।

ईश्वर-पूजन का मार्ग इतना सुगम है कि प्रत्येक मनुष्य इसको बड़ी आसानी के साथ कर सकता है, केवल "दृष्टि-दोष" दूर हो जाना चाहिये। दृष्टि-शुद्धि अर्थात् भाव-शुद्धि हो जाय, तो सारा जीवन ही "पूजन-स्वरूप" बन जायगा।

दृष्टि-दोष कैसे दूर होगा? श्री श्रीसद्-गुरु का श्रीचरण-आश्रय, सत्सङ्ग, सद्-ग्रन्थ-पाठ, साधु-सङ्ग, निःसङ्ग होकर भगवद्-भजन से दोष दूर होकर "भाव-शुद्धि" हो जाती है।

दृष्टि के विमल हो जाने से सारा प्रपञ्च आत्मा का ही विलास बोध होता है और जब ऐसा यथार्थ बोध हो जाय, तब सारी इन्द्रियों की क्रियायें भी 'ईश्वर-पूजन-रूप' हो जाती हैं।

आइये! दीन मानवता की ओर से हम सभी मिलकर जगन्माता से हार्दिक प्रार्थना करें कि हम लोगों की भावना शुद्ध हो, दृष्टि विमल हो और हम तत्व-ज्ञान को प्राप्त कर इस देव-दुर्लभ मनुष्य-जीवन को सार्थक बना सकें।

हिन्दुओं की पूजा का आधार–'तत्व-ज्ञान'

[पिछले दो निबन्धों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दुओं की पूजा के पीछे मानव-जीवन में अनुपम सद्-भावनाओं के विकास-पोषण का लक्ष्य रहा है। हिन्दुओं की पूजा की यह अनूठी विशेषता है किन्तु इस विशेषता का वास्तविक महत्व तब स्पष्ट होता है, जब हमें हिन्दुओं की पूजा के आधार का ज्ञान उसके 'अस्तित्व-विज्ञान' के परिचय से प्राप्त होता है।

'अस्तित्व-विज्ञान' प्राचीन भारत की विश्व को एक बहुत बड़ी देन है। यही वह ज्ञान है, जिसके फल-स्वरूप आध्यात्मिक विचार के लोगों की दृष्टि में आज भी भारत आध्यात्मिक ज्ञान का सार्वभौम मार्ग-दर्शक बना हुआ है।

'अस्तित्व-विज्ञान' को जानने से मनुष्य 'व्यक्ति' की स्थिति को पार कर जाता है। निश्चय ही यह विज्ञान भारत की अपनी एक विशेष थाती है और इस पर भारत का एकाधिकार सृष्टि के आरम्भ काल से स्थापित है।

भारतीय 'अस्तित्व-विज्ञान' के अनुसार 'जीव' और 'पर-शिव' अनन्य हैं अर्थात् इनमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। 'जीव' ३६ तत्वों से बँधा होने के कारण 'पर-शिव' से भिन्न प्रतीत होता है। शिव-स्वरूप को प्राप्त करने के लिये जीव के पास इन्हीं तत्व-रूपी ३६ सोपान हैं। ये ३६ सोपान बन्धन-कारक होने के कारण बन्धन-कारक तत्व भी कहलाते हैं। इन ३६ तत्वों के शोधन के द्वारा जीव अपने मूल शिव-स्वरूप को पुनः ग्रहण कर सकता है। हिन्दुओं की पूजा शिव-स्वरूप-दायक 'तत्व-शोधन' का एक अनूठा उपाय है।

हिन्दुओं की पूजा के रहस्य को जानने के लिए पूजा के आधार भारतीय अस्तित्व-विज्ञान को जानना आवश्यक है। प्रस्तुत निबन्ध में एतद्-विषयक जानकारी दी गई है।—सं०]

मनुष्य-शरीर में स्थित ३६ तत्वों का परिचय

'तत्व' किसे कहते हैं? उसकी परिभाषा क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में 'सूत-संहिता' कहती है कि 'प्रलय-काल पर्यन्त जो कुछ भी भोग्य पदार्थ, अथवा भोग के साधन, यद्वा भोग के निमित्त कारण, या भोक्ता (भोग करनेवाले) विद्यमान रहते हैं—वे सब तत्व कहलाते हैं।' तत्व ३६ हैं और वे निम्नलिखित हैं—

१ शिव, २ शक्ति, ३ सदा-शिव, ४ ईश्वर और ५ शुद्ध-विद्या—इन पाँच तत्वों को 'शुद्ध-तत्व' कहते हैं।

६ माया, ७ कला, ८ विद्या, ९ राग, १० काल और ११ नियति तथा १२ पुरुष—इन सात तत्वों को 'शुद्धाशुद्ध तत्व' अर्थात् शुद्ध और अशुद्ध (उभय-विध) दोनों प्रकार के तत्व कहते हैं।

१३ प्रकृति, १४ बुद्धि, १५ अहङ्कार, १६ मन, १७ श्रोत्र, १८ त्वक्, १९ चक्षु, २० जिह्वा, २१ घ्राण, २२ वाक्, २३ पाणि (हाथ), २४ पाद (पैर), २५ पायु (मल-द्वार), २६ उपस्थ (मूत्र तथा वीर्य निकलने का द्वार), २७ शब्द, २८ स्पर्श, २९ रूप, ३० रस, ३१ गन्ध, ३२ आकाश, ३३ वायु, ३४ अग्नि, ३५ जल और ३६ भूमि। उक्त १३ वें 'प्रकृति' तत्व से लेकर ३६ वें तत्व 'भूमि' पर्यन्त ये २४ तत्त्व 'अशुद्ध तत्व' कहे जाते हैं।

कुछ शास्त्र कहते हैं कि शिव-तत्व से लेकर पृथिवी (भूमि) तत्व पर्यन्त कुल तत्व ३६ हैं, जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है। कुछ शास्त्र कहते हैं कि तत्व-संख्या कुल २४ है। चाहे उनकी संख्या ३६ हो अथवा २४, ये 'आत्म-तत्व', 'विद्या-तत्व' और 'शिव-तत्व' के नाम से तीन भागों में बाँटे गये हैं।

शारदा-तिलक के पञ्चम पटल में उक्त गणना निम्नलिखित प्रकार से की गई है—

तत्वानि शैवान्युच्यन्ते शिवः शक्ति सदा-शिवः । ईश्वरो विद्यया सार्धं पञ्च शुद्धान्यमूनि हि ।।

अर्थात्–१ शिव, २ शक्ति, ३ सदा-शिव, ४ ईश्वर और ५ शुद्ध-विद्या–ये पाँच 'शुद्ध-तत्व' अथवा 'शिव-तत्व' हैं।

माया कालश्च नियति कला विद्या पुनः स्मृता । रागः पुरुष एतानि शुद्धाऽशुद्धानि सप्त च ।।

अर्थात्–१ माया, २ काल, ३ नियति, ४ कला, ५ विद्या, ६ राग और ७ पुरुष–ये सात 'शुद्धाशुद्ध' तत्व अथवा 'विद्या-तत्व' हैं।

प्रकृतिर्बुद्धयहङ्कारो मनो ज्ञानेन्द्रियाण्यथ । कर्मेन्द्रियाणि तन्मात्राः पञ्च-भूतानि देशिकाः ।
एतान्याहुरशुद्धानि चतुर्विंशतिरागमे ।।

अर्थात् १ प्रकृति, २ बुद्धि, ३ अहङ्कार, ४ मन, ५-९ पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, १०-१४ पञ्च कर्मेन्द्रिय, १५-१९ पञ्च-तन्मात्राएँ और २०-२४ पञ्च महाभूत—ये २४ 'अशुद्ध-तत्व' अथवा 'आत्म-तत्व' हैं।

इस संसार में कोई वस्तु चेतन है तथा कोई अचेतन। इन्हीं दोनों को शुद्ध तथा अशुद्ध कहते हैं। अचिद् चक्र के साथ चिद् संसार को अनुभव कर रहा है। इसे ही अशुद्ध कहते हैं। इससे भिन्न शुद्ध है।

छत्तीस तत्वों में से २४ 'आत्म-तत्व' चिद् और अचिद् के सम्पर्क में होने के कारण स्थूल और जड़ हैं। अतएव वे अशुद्ध तत्व हैं।

७ 'विद्या-तत्व' यद्यपि चिद् और अचिद् के सम्पर्क में हैं तथापि वे पारदर्शी (ट्रांसपेरेण्ट) हैं और प्रकाश प्रतिविम्ब डालने में समर्थ हैं। अतएव वे 'शुद्धाशुद्ध तत्व' कहे जाते हैं।

५ 'शिव-तत्व' केवल प्रकाश की श्रेणियाँ हैं। अतएव वे 'शुद्ध तत्त्व' माने जाते हैं।

पाँच 'शिव'-तत्वों अथवा 'शुद्ध तत्वों' का वर्णन

पाँच 'शिव-तत्त्वों' में से 'शुद्ध विद्या-तत्त्व' जगत्, जीव और पर के भेद-भाव को दूर करता है। 'ईश्वर-तत्त्व' नाम और रूप की विभिन्नताओं के साथ विश्व में इदन्ता-रूप ज्ञान का अवगम (उपलब्धि) है। यह इदन्ता एक तथा सर्व-व्यापक है और इसके कारण ही नाम और रूप मिथ्या से प्रतीत होते हैं।

इस जगत् की साधारण आश्रयीभूत सच्चिदानन्द की प्रकृति अहन्ता का उत्पादक 'सदाशिव-तत्व' है। दूसरे शब्दों में यह सम्पूर्ण विश्व मेरा आविष्कार है—इस अनुभव का नाम सदाशिव-तत्व है।

पर-शिव की संसार-सिसृक्षा (जगत् को पैदा करने की इच्छा) 'शक्ति-तत्व' कहलाता है। दूसरे शब्दों में वही पर-तत्व (पर-शिव) जब क्रिया में लीन होकर 'मैं सबका कर्ता हूँ' ऐसा व्यवहार करता है, तब 'शक्ति-तत्त्व' कहलाता है।

'परा-प्रवेशिका' के अनुसार जगत् की रचना करनेवाले परमेश्वर का प्रथम स्पन्द-रूप जो इच्छा है, उसे ही 'शक्ति-तत्त्व' कहते हैं, क्योंकि वह 'शक्ति-तत्त्व' अप्रतिहत इच्छा-वाला है।

'शिव-तत्त्व' में 'शिव' शब्द से ज्ञान-शक्ति ली गयी है और 'शक्ति-तत्त्व' में शक्ति शब्द से क्रिया-शक्ति का बोध होता है। 'काम-कला-विलास' भी 'शिव' शब्द से ज्ञान-शक्ति का ग्रहण और

'क्रिया'-पद से शक्ति-तत्त्व को स्वीकार करता है क्योंकि शिव 'ज्ञान' का अधिष्ठाता और 'क्रिया' का अधिष्ठाता शक्ति पदार्थ है। चिदानन्द-स्वरूपिणी शक्ति ज्ञान-क्रिया द्वारा प्रपञ्च की रचना करती है।

इच्छा, ज्ञान, क्रियात्मक, पूर्णानन्द-स्वरूप परम शिव ही 'शिव-तत्त्व' है। अर्थात् महेश्वर ही शिव हुये हैं। अथवा यों कहिये कि अध्यारोपित की पैदा करने की इच्छा के 'शिव-तत्त्व' स्वयं 'पर-शिव' हैं अथवा विस्तार के साथ यों समझिये कि जब सृष्टि-क्रम प्रवृत्त होने लगता है, तब 'परा-शक्ति' इच्छा-रूप से ज्ञान और क्रिया इन दो शक्तियों को व्यक्त करती है। ज्ञान-शक्ति परा-शक्ति की अन्तरङ्ग है और क्रिया-शक्ति बहिरङ्ग है। इसी ज्ञान-शक्ति में पर-तत्त्व अभिमान करने से 'मैं सर्वज्ञ हूँ' जब ऐसा समझता है तब उसे 'शिव-तत्त्व' कहते हैं।

'शुद्धाशुद्ध'-तत्वों अथवा 'विद्या'-तत्वों का वर्णन

पहले कहा जा चुका है कि 'आत्म-तत्व' स्थूल और जड़ हैं और वे त्रिविध शरीर अर्थात् १ स्थूल, २ सूक्ष्म और ३ कारण शरीर--भोगायतन--(भोग के घर) को बनाते हैं।

सात विद्या-तत्त्वों में से 'पुरुष-तत्त्व' २४ 'आत्म-तत्त्व' सहित उपरि-वर्णित त्रिविध शरीर में निविष्ट है, जो अपने आपको कर्ता और भोक्ता प्रकट करता है। कार्य और भोग असत्य हैं, जो 'माया-तत्त्व' के द्वारा उसके ऊपर अध्यारोपित हैं। यह 'माया'-तत्त्व ही जीव के भीतर यह भाव पैदा करता है कि जगत्-जीव और परमात्मा (पर-शिव) भिन्न-भिन्न हैं। कला, अविद्या, राग, काल और नियति—ये पाँच मध्य-वर्ती तत्त्व 'पुरुष' की सर्व-कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, नित्य-तृप्ति, नित्यत्व और स्वातन्त्र्य—इन पाँच स्वाभाविक विशेषताओं को आच्छादित कर देते हैं और उसे अनुभव कराते हैं कि उसकी शक्ति और ज्ञान अत्यल्प तथा तृप्ति परिमित, स्थिति अल्प-कालीन तथा स्वतन्त्रता सीमित (परिमित) है।

वास्तव में जीव और पर-शिव अनन्य रूप हैं अर्थात् इनमें भेद नहीं है। किन्तु विरूपता-कारक माया के प्रभाव से पर-शिव की पाँच पूर्वोक्त सर्व-कर्तृत्व आदि विशेषतायें, जो जीव में स्वाभाविक हैं, माया के प्रभाव से कला, विद्या, राग, कला और नियति में परिवर्तित हो जाती हैं और ये तत्त्व 'पाँच कञ्चुक' (आवरण) कहलाते हैं। माया के कार्य होने से ये कञ्चुक मिथ्या हैं। केवल इनके कारण ही जीव सांसारिक दुःखों को अथवा जीवन-मरण के चक्र को भोगता है। जब जीव 'शुद्ध विद्या-तत्त्वों' के लाभकारी प्रभाव से उन कञ्चुकों (आवरणों) को त्याग देता है, तब वह स्वयं 'पर-शिव' होकर प्राक्तन प्रताप से प्रकाशमान होता है। शास्त्र में लिखा भी है—

"शरीर-कञ्चुकितः शिवो जीवः, निष्कञ्चुकः पर-शिवः।"

३६ तत्त्वों की गणना में 'पुरुष' (जीव) तत्त्व 'शुद्धाशुद्ध' तत्त्वों (विद्या-तत्त्व) की १२ वीं संख्या में और 'शिव-तत्त्व'(ईश्वर, परमेश्वर, पर-शिव) का 'शिव'-तत्त्वों की गणना में प्रथम निर्देश होने से जीव और पर-शिव में भेद दिखाया गया है। यदि भेद नहीं होता, तो पृथक्-पृथक् दो तत्त्व पुरुष (जीव) और शिव क्यों दिखाये जाते? अतः इससे विदित होता है कि अद्वैत सिद्धान्त गलत है। इस आक्षेप का निराकरण निम्नलिखित है—

यदि पुरुष (जीव) और शिव में वास्तविक भेद होता, तो उक्त आशङ्का तब ठीक ही थी, किन्तु यह भेद तात्विक (वास्तविक) नहीं है। पूर्णतया स्वतन्त्र तथा निःसीम सच्चिदानन्द-स्वरूप शिव की पूर्णता और स्वतन्त्रता उस (शिव) की उस आश्चर्य-जनक माया के आवरण से आच्छादित है, जो स्पष्टतया सम्पूर्ण असम्भव वस्तुओं को प्राप्त करने में समर्थ है।

इसी भाव का वर्णन प्रकारान्तर से भी किया गया है। जिस अवस्था में 'पर-शिव' की स्वतन्त्रता को माया आच्छादित कर देती है, उस अवस्था का नाम 'आणविक मल' है। माया 'पर-शिव' की स्वतन्त्रता को किस विधि से आच्छादित करती है, इसकी व्याख्या निम्नलिखित है—

जिस प्रकार सूर्य की किरणों से उत्पन्न मेघों द्वारा सूर्य आच्छादित हो जाता है, इसी प्रकार पर-शिव से उत्पन्न माया के सामर्थ्य से वह (पर-शिव) प्रच्छन्न रहता है। जिस भाँति मेघाच्छन्न रहने पर भी भगवान् भास्कर की कान्ति का कोई भाग भी न्यून नहीं होता, उसी भाँति वास्तव में 'पर-शिव' की स्वतन्त्रता किञ्चित् मात्र भी नष्ट नहीं होती। मेघ और माया केवल अतात्विक उपाधियाँ हैं। अतएव सत्य नहीं हैं।

माया की शक्ति से 'पर-शिव' की विश्व-व्यापिता आच्छादित हो जाती है और वह परिमित जैसा प्रतीत होता है। उसकी इस अवस्था का नाम 'मायिक मल' है।

इसके अनन्तर वह द्वैतता के भाव का अनुभव करता है। यह द्वित्ततानुभव रुचि और अरुचि—पैदा करता है। इससे उद्योगिता और निरुद्योगिता होती है, जो उसको शुभाशुभ कर्मों का कर्ता बना देती है। 'पर-शिव' की इस अवस्था का नाम 'कार्मिक मल' है। १ आणव, २ मायिक और ३ कार्मिक—ये तीन मल—तीन शरीर हैं। इस प्रकार 'पर-शिव' इन तीन मल-रूपी शरीरों द्वारा मूर्तिमान होकर जीव बनता है।

जीव का चरम लक्ष्य अपनी वास्तविक प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना है, जो (प्रकृति) 'स्व-विमर्शः पुरुषार्थः' (अपने आपका विचार करना) इस वचन के अनुसार स्वयं 'पर-शिव' है।

सात 'शुद्धाशुद्ध-तत्त्व' जिन्हें 'विद्या-तत्त्व' में सम्मिलित किया गया है अर्थात् 'विद्या-तत्त्व' माना गया है, उनका संक्षिप्त स्वरूप नीचे दर्शाया जाता है—

६ ठाँ तत्त्व 'माया'-तत्त्व है। इसके विषय में निम्नलिखित श्लोक कहा गया है—

माया विभेद-बुद्धिर्निजांश-जातेषु निखिल-जीवेषु।
नित्यं तस्य निरंकुश-विभवं वेलेव वारिधेरुन्धे॥

समुद्र की तरङ्गों का वैभव जैसे अथाह और अपार है, परन्तु तट से रुका हुआ है, इसी प्रकार माया समस्त जीवों में भेद-बुद्धि-रूप रहती है। स्व-स्वरूप-भावों में भेद-प्रथा-रूप माया-तत्त्व है।

७ 'कला'-तत्त्व—उस पुरुष की किञ्चित्-कर्तृता को कला कहते हैं। अर्थात् जब परमेश्वर अपनी परमेश्वरी माया-शक्ति द्वारा स्वरूप ग्रहण करके संकुचित ग्राहकता को प्राप्त करता है, तब उसकी पुरुष संज्ञा होती है। पुरुष अर्थात् जीव ही माया से मोहित होकर कर्म-बन्धनवाला संसारी (जीव) कहा जाता है। परमेश्वर से अभिन्न होने पर भी इसी जीव को मोह होता है, परमेश्वर को नहीं। जैसे इन्द्र-जाल करने-वाला अपनी इच्छा से ही दर्शकों की भ्रान्ति के लिये अपना इन्द्र-जाल प्रकट करता है, परन्तु वह स्वयं उनसे मोहित नहीं होता। इसी प्रकार परमेश्वर को अपनी माया से मोह नहीं होता है। बाजीगर और दर्शकों में जो अन्तर है, वही जीव और शिव में है।

८ वाँ 'विद्या'-तत्त्व—अपूर्ण किञ्चित् ज्ञान-रूप ही 'विद्या'-तत्त्व है, अर्थात् किञ्चित् ज्ञान के कारण को 'विद्या'-तत्त्व कहते हैं।

९ वाँ 'राग'-तत्त्व—विषयों में प्रीति करना ही 'राग'-तत्त्व कहलाता है। प्रीति का अर्थ प्रेम है।

१० वाँ 'काल'-तत्व––अवश आत्मा को क्रमशः एक के बाद एक कर्म के फल-भोग में जो शक्ति नियमन करती है, उसे 'काल'-तत्व कहते हैं।

११ वाँ 'नियति'—अवश आत्मा को कृत्याकृत्य (भले-बुरे कार्यों) में नियम-पूर्वक जो शक्ति नियमन करती है, उसे 'नियति'-तत्त्व कहते हैं।

१२ वाँ 'पुरुष' तत्व—अग्नि से अनेक चिनगारियाँ उत्पन्न होकर पृथक् प्रतीत होती हैं। ऐसे ही पर-तत्त्व (पर-शिव) से इच्छा-शक्ति के द्वारा आविर्भूत (प्रकट) होनेवाला तत्त्व 'पुरुष'-तत्त्व कहलाता है, जो परा-शक्ति (शिव) का अंश है। पूर्वोक्त आणव आदि मल-त्रय (तीन मल) से आवृत होने के कारण वह संसारी कहा जाता है। इसका परिमाण अणु है। कई ग्रन्थों में यह आभास अथवा प्रतिबिम्ब माना गया है।

पञ्च-कोशों का वर्णन

यहाँ पर पातञ्जल योग के अनुसार पञ्च-कोशों का वर्णन करना हमारी सम्मति में अनुपयुक्त न होगा। शुद्ध 'आत्म-तत्त्व' ज्ञान, प्रकाश, आत्म-ज्योति-स्वरूप 'पर-शिव' है।

१ 'आनन्द-मय-कोश'—शुद्ध आत्म-तत्त्व पर चित्त (महत्तत्त्व) की पहली चिमनी चढ़ी हुयी है, इसको 'आनन्दमय-कोश' कहते हैं। आनन्द का विकार-रूपी यह कोश आत्म-स्वरूप को आच्छादित कर (ढँक कर) प्रिय मोद-प्रमोद-रहित आत्मा को प्रिय मोद-प्रमोद-वान् तथा अपरिच्छिन्न सुख-रहित आत्मा को परिच्छिन्न सुख-विशिष्ट रूप में प्रकट करता है।

यह आनन्द-मय कोश-रूप अज्ञान का आवरण ही जीव का 'कारण शरीर' कहलाता है। इस कारण शरीर सहित आत्मा को 'प्राज्ञ पुरुष' कहते हैं।

२ 'विज्ञान-मय-कोश'—इस आनन्द-मय कोश रूपी चिमनी के ऊपर दूसरी चिमनी अहङ्कार और बुद्धि की है। इसको विज्ञान-मय कोश कहते हैं। यह विज्ञान-मय कोश आत्म-स्वरूप को आच्छादित करके अकर्ता, अविज्ञाता और निश्चय-रहित आत्मा को कर्ता, विज्ञाता और निश्चय-युक्त तथा जात्य-भिमान-रहित आत्मा को जात्यभिमान युक्त जैसा प्रकट करता है। इस विज्ञान-मय कोश में अभिमान वर्त्तमान है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व और सुखित्त्व आदि अभिमान ही इस विज्ञान-मय कोश का गुण है।

३ 'मनो-मय कोश'—इस विज्ञान-मय कोश-रूपी चिमनी पर तीसरी मन और ज्ञानेन्द्रियों की रङ्ग-वाली चिमनी चढ़ी हुई है, जिसको मनो-मय कोश कहते हैं। मन और ज्ञानेन्द्रियों का विकार-रूप यह कोश आत्म-स्वरूप को आच्छादित करके संशय-रहित, शोक-मोहादि-रहित आत्मा को संशय-युक्त, शोक-मोहादि-युक्त तथा दर्शन आदि का कर्ता-रूप प्रकट करता है। इस मनोमय कोश में इच्छा-शक्ति वर्तमान है।

४ 'प्राण-मय-कोश'—मनो-मय कोश-रूपी चिमनी पर चौथी चिमनी पञ्च-कर्मेन्द्रिय और पाँच-प्राणों की चढ़ी हुई है, जिसको प्राण-मय कोश कहते हैं। प्राण और कर्मेन्द्रियों का विकार-रूपी यह प्राण-मय कोश आत्मा को आच्छादित करके वक्तृत्व-रहित आत्मा को वक्ता, दातृत्व-रहित आत्मा को दाता, गति-रहित आत्मा को गति-शील तथा क्षुत्-पिपासा-रहित आत्मा को भूख और प्यास-युक्त आदि नाना प्रकार के विकारों से युक्त जैसा प्रकट करता है। इस प्राण-मय कोश में क्रिया-शक्ति वर्तमान होने से यह कार्य-रूप होता है।

ये तीनों—विज्ञान-मय, मनोमय और प्राण-मय—कोश मिलकर 'सूक्ष्म शरीर' कहलाते हैं। इस सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा का नाम 'तैजस पुरुष' है।

५ अन्न-मय कोश—चौथी प्राण-मय कोश - रूपी चिमनी पर पाँचवीं स्थूल शरीर की चिमनी चढ़ी हुई है, जो अन्न-मय कोश कहलाता है। यह अन्न से बने हुये रज और वीर्य से उत्पन्न होता है और अन्न से ही बढ़ता है। इसलिये इसको अन्न-मय कोश कहते हैं। इस अन्न-मय कोश के कारण अपरिच्छिन्न, अविभक्त आत्मा परिच्छिन्न तथा विभक्त और ताप-रहित आत्मा ताप-युक्त (सन्तप्त); अजर, और अजन्मा आत्मा जरा (बुढ़ापा), मृत्यु और जन्म से युक्त (जन्म-धारी) प्रतीत होता है।

इस अन्न-मय कोश को ही 'स्थूल शरीर' कहते हैं और स्थूल शरीर सहित आत्मा को 'विश्व-पुरुष' कहते हैं।

इन पाँचों कोशों को पाँच रङ्ग-वाली चिमनियाँ समझना चाहिये और शुद्ध चेतन तत्त्व 'आत्म-तत्त्व' को एक प्रकाश की ज्योति, जिसका प्रकाश इन भिन्न रङ्गवाली पञ्च-कोशात्मक चिमनियों से होकर बाहर आता हुआ उनके रङ्गों जैसा प्रतीत होता है। 'श्रीललिता-सहस्रनाम' में भगवती श्रीललिता का एक नाम 'पञ्च-कोशान्तर-स्थिता' इस प्रकार आता है। इन नामों में पञ्च-कोशों से पूर्वोक्त पञ्च-कोशों को ही लक्ष्य किया गया है।

इस प्रकार पाँच 'शिव-तत्त्व' (शुद्ध-तत्त्व) तथा सात 'विद्या'-तत्त्वों (शुद्धाशुद्ध तत्त्वों) का वर्णन कर अब हम २४ आत्म-तत्त्वों का वर्णन करते हैं। ये २४ 'आत्म-तत्त्व' अशुद्ध-तत्त्व माने जाते हैं—

'आत्म'-तत्वों अथवा 'अशुद्ध'-तत्वों का वर्णन

१३ 'प्रकृति'-तत्त्व—महत् अथवा बुद्धि से लेकर पृथिवी-पर्यन्त २३ तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति है और यह प्रकृति सत्व, रज और तम की साम्यावस्था से अविभक्त रूप-वाली है। अर्थात् इसमें सत्व, रज और तम ये तीनों गुण बराबर भागों में हैं, न्यून अथवा अधिक नहीं।

१४ महत् अथवा 'बुद्धि'-तत्त्व—'यह ऐसा ही है' : इस निश्चयात्मक ज्ञान को महत् या बुद्धि-तत्त्व कहते हैं।

१५ 'अहङ्कार'-तत्त्व—मम-कार के कारण को अहङ्कार कहते हैं अर्थात् 'मेरा वह है, यह नहीं है'—इस अभिमान के साधन को अहङ्कार कहते हैं।

१६ मनस्तत्व—सङ्कल्प-विकल्प के साधन को मन कहते हैं। मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन तीनों को अन्तःकरण कहते हैं।

१७ 'श्रोत्र-तत्व'—अन्तःकरण-रूप से परिणत शक्ति-तत्व श्रवण-ज्ञान का कारण होने से 'श्रोत्र'-तत्व कहलाता है। स्पर्श-ज्ञान का कारण होने से १८ वाँ 'त्वक्'-तत्व; रूप के ज्ञान का कारण होने से १९ वाँ 'चक्षु'-तत्व है। रस के ज्ञान का कारण होने से २० वाँ 'जिह्वा'-तत्व तथा गन्ध-ज्ञान का कारण होने से २१ वाँ 'घ्राण' तत्व कहा जाता है। इन्हें पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय भी कहते हैं।

ज्ञानेन्द्रिय-रूप से परिणत शक्ति-तत्व उच्चारण-क्रिया का साधन होने से २२ वाँ 'वाक्'-तत्व कहलाता है। एवं आदान (लेना) और विहरण (चलना) क्रिया का साधन २३ वाँ पाणि (हस्त) और २४ वाँ 'पाद' (पैर) कहलाता है। मल-त्याग का साधन २५ वाँ 'पायु' (मल-द्वार) तत्व एवं मूत्र और रेतस् के (वीर्य) विसर्ग (त्याग) का साधन २६ वाँ 'उपस्थ'-तत्व कहलाता है। इन्हें पञ्च-कर्मेन्द्रिय भी कहते हैं।

ये १३ तत्व—प्रकृति, महत् या बुद्धि और अहङ्कार–३, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ—इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति-प्रधान हैं।

५ ज्ञानेन्द्रियों के क्रम से ग्राह्य (ग्रहण करने के योग्य) २७ वाँ 'शब्द'-तत्व, २८ वाँ 'स्पर्श'-तत्व, २९ वाँ रूप-तत्व, ३० वाँ 'रस'-तत्व और ३१ वाँ 'गन्ध'-तत्व पञ्च-तन्मात्रा कहे जाते हैं। अर्थात् शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध—इनकी सूक्ष्मावस्था को पञ्च-तन्मात्रा कहते हैं। उनका विशेष विवरण सांख्य दर्शन में दिया गया है।

शक्ति-तत्व इन पञ्च-तन्मात्राओं द्वारा स्थूल पञ्च-महा-भूत रूप से परिणत होकर ३२ वाँ 'आकाश'-तत्व, ३३ वाँ 'वायु'-तत्व, ३४ वाँ 'तेज'-तत्व, ३५ वाँ 'जल'-तत्व और ३६ वाँ 'पृथ्वी'-तत्व रूप धारण करके यह दृश्यमान स्थूल प्रपञ्च-रूप से प्रतीत हो रहा है।

आकाश = अवकाश देनेवाला, वायु = सञ्जीवन करनेवाला, तेज = अग्नि = दाहक और पाचक क्रिया करनेवाला है। जल का लक्षण गीला करना और बहाना है। भूमि = धारण करनेवाली।

इस प्रकार दृश्यमान स्थूल प्रपञ्च ३६ तत्त्वों से निर्मित है। दूसरे शब्दों में मूल-तत्त्व (पर-शिव, पर-शक्ति) का अवरोहण ३६ शृङ्खलाओं द्वारा होता है। मूल-तत्त्व तक आरोहण हेतु हमारे द्वारा उक्त ३६ तत्त्वों का शोधन आवश्यक है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन छत्तीस तत्त्वों के विकार और परिणामों से हमें मानव-शरीर की चार प्रमुख अवस्थाओं—१ जाग्रत्, २ स्वप्न, ३ सुषुप्ति, ४ तुरीय एवं चार प्रमुख स्वरूपों—१ स्थल शरीर, २ सूक्ष्म शरीर, ३ कारण शरीर, ४ महा-कारण शरीर का अनुभव होता है।

स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महा-कारण शरीर और चार अवस्थाएँ

स्थूल-शरीर—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पञ्च-भूतों से यह शरीर बना है। अतएव पाञ्च-भौतिक देह भी कहा जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पञ्च-तन्मात्रायें इसके विषय हैं और यह इनके आनन्द प्राप्त करने में लगा रहता है। इस स्थूल शरीर को मांस, त्वक् (चमड़ी), रुधिर, शुक्र, मज्जा, अस्थि और मेद (चर्बी)—ये सात धातुयें बनाती हैं। हाथ, पैर, जङ्घा, छाती, मस्तक और पीठ आदि इस शरीर के अङ्ग और उपाङ्ग हैं। यह स्थूल शरीर आत्म-तत्वों से बनता है। अतएव आत्म-तत्वात्मक है।

सूक्ष्म-शरीर—यह पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च-कर्मेन्द्रिय, पंच-प्राण तथा मन और बुद्धि इन–१७ तत्वों से बनता है। ये १७ तत्व अपञ्चीकृत पञ्च-महाभूतों से उत्पन्न होते हैं। सप्त-दश तत्वों के विषय में लिखा भी है—

बुद्धि-कर्मेन्द्रिय-प्राण-पञ्चकैर्मनसा धिया। शरीरं सप्त-दशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ।।

इस सूक्ष्म शरीर का नाम 'लिङ्ग-शरीर' भी है। उक्त पञ्च-प्राणों के नाम हैं—१ प्राण, २ अपान, ३ समान, ४ उदान और ५ व्यान। प्राण अन्तःकरण का ही वृत्ति-भेद है।

इस सूक्ष्म शरीर में ही वासनायें अर्थात् इच्छायें उत्पन्न होती हैं और यही लिङ्ग-शरीर (सूक्ष्म शरीर) भले-बुरे कर्मों के फल का अनुभव करता है। यह सूक्ष्म शरीर विद्या-तत्वात्मक और तेजस्तत्व-प्रधान है। इसी से सूक्ष्म शरीर-सहित जीवात्मा जब स्थूल शरीर से निकल जाता है, तब स्थूल मृत शरीर में जरा भी उष्णता नहीं रहती।

कारण-शरीर—अविद्या की अज्ञान, अहन्ता आदि वृत्तियों का नाम 'कारण'-शरीर है अर्थात् कारण-शरीर को अविद्या कहते हैं। इसे वासना-मय शरीर भी कहते हैं और यह शरीर शिव-तत्वात्मक है।

स्थूल शरीर के अभिमानी जीव का नाम 'विश्व-पुरुष' है।

सूक्ष्म-शरीर के अभिमानी जीव को 'तैजस् पुरुष' कहते हैं।

कारण-शरीर के अभिमानी जीव का नाम 'प्राज्ञ-पुरुष' है।

सुषुप्ति-दशा को प्राप्त जीव की उपाधि कारण-शरीर कहलाती है।

महा-कारण शरीर—षट्-त्रिंशात्मक (सर्व-तत्व-स्वरूप) सर्व-देहाभिमानी अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीराभिमानी जीवात्मा ही महा-कारण शरीर है। जब यह जीवात्मा तुर्या दशा में पहुँचता है, तब इसकी उपाधि 'महा-कारण शरीर' होती है।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—जीव की शुचिता (चेतनता) की इन तीन दशाओं के अधिष्ठाता जीव के विशेष रूप ही विश्व, तैजस् और प्राज्ञ कहलाते हैं। पूर्व कर्मों का फल इन्हीं तीन अवस्थाओं में सब व्यक्तियों को सम-रूप से भोग करना पड़ता है। ये अवस्थायें अज्ञानावस्था कहलाती हैं। जीव अपने पूर्व कर्म्मों का भोग जाग्रत् और स्वप्नावस्था में भोगता है। तथा सुषुप्त्यवस्था में किञ्चित् काल के लिये अचेतनावस्था में ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है, किन्तु अवशिष्ट कर्म-भोग के कारण पुनः इन्हीं अवस्थाओं में पतित हो जाता है। इस प्रकार इन्हीं तीन अवस्थाओं में जीव प्रतिदिन मृत्यु-पर्यन्त भ्रमण करता रहता है और पुनः उत्पन्न होता है तथा मरता है। इस प्रकार यह क्रम प्रवर्तित होता रहता है।

इन जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं को भोगनेवाले यदि तत्व-ज्ञान प्राप्त कर इन अवस्थाओं को भोगते हैं, तो भोगते-भोगते उनको शुद्ध-विद्या-तत्व की चमत्कार-रूप तुर्यावस्था प्राप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में परस्पर भेद होने पर भी 'तत्व-ज्ञान' द्वारा तुर्य-नाम का परम धाम (तुर्यावस्था) और उसका चमत्कार अर्थात् उस अवस्था का अनुभव स्वतः हो जाता है।

इस प्रकार हिन्दू धर्म-शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक मनुष्य साक्षात् आनन्द-स्वरूप 'शिव' है। बन्धनों, आवरणों, अशुद्धियों के कारण वह अपने इस मूल स्वरूप से अपरिचित रहता है। 'तत्व-ज्ञान' के परिणाम-स्वरूप भावना-शुद्धि के सतत अभ्यास के द्वारा मनुष्य अपने मूल आनन्द-स्वरूप की प्राप्ति में पूर्ण समर्थ है। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुये हमारे शास्त्र में 'देव-पूजा' का विधान हुआ है। 'तत्व-शुद्धि' हमारी पूजा का प्रधान लक्ष्य है और यह सभी मनुष्यों के द्वारा अनुकरणीय है।

हिन्दुओं की पूजा का मुख्य लक्ष्य—'तत्व-शुद्धि'

यह शरीर त्वक् (चमड़ी), मांस, रुधिर, स्नायु (नस), मेद (चर्वी), मज्जा और अस्थियों (हड्डियों) से बनता है और मल-मूत्र से पूर्ण 'स्थूल-शरीर' कहलाता है।

इस शरीर की रचना मांस, शोणित आदि पदार्थों से हुई है और मांस आदि पदार्थ—१ पृथ्वी, २ जल, ३ तेज, ४ वायु तथा ५ आकाश, इन पञ्च-भूतों से बनते हैं। अतएव यह शरीर पाञ्च-भौतिक शरीर कहा जाता है। १ शब्द, २ स्पर्श, ३ रूप, ४ रस और ५ गन्ध—ये पञ्च-तन्मात्रायें इसके विषय हैं।

यह इनका आनन्द प्राप्त करने में लगा रहता है। हाथ, पैर, जङ्घा, छाती, मस्तक और पीठ आदि इस शरीर के अङ्ग और उपाङ्ग हैं।

यह 'स्थूल-शरीर'—१ प्रकृति, २ अहङ्कार, ३ बुद्धि, ४ मन, ५ श्रोत्र, ६ त्वक्, ७ चक्षु, ८ जिह्वा, ९ प्राण, १० वाक्, ११ पाणि, १२ पाद, १३ पायु, १४ उपस्थ, १५ शब्द, १६ स्पर्श, १७ रूप, १८ रस, १९ गन्ध, २० आकाश, २१ वायु, २२ तेज, २३ जल और २४ पृथ्वी—इन चौबीस आत्म-तत्वों से बना हुआ है।

इस 'स्थूल-शरीर' को 'अन्न-मय कोश' भी कहते हैं। यह कोश अन्न से जीता है और बिना अन्न के नष्ट हो जाता है। इस अन्न-मय कोश के कारण इसके भीतर रहनेवाले अपरिच्छिन्न, अविभक्त आत्मा परिच्छिन्न, विभक्त तथा जरा-मृत्यु से युक्त प्रतीत होती है। इस स्थूल देह की प्रधानता 'जाग्रद-वस्था' में है, अर्थात् इसकी अवस्था 'जाग्रत्' है। जाग्रदवस्था में जीव की शुचिता (चेतनता) के अधि-ष्ठाता जीव का विशेष रूप 'विश्व-पुरुष' कहाता है।

'स्थूल-शरीर' का शोधन

हिन्दुओं की पूजा में शरीर में सर्वप्रथम स्थूल-शरीर के आधार में अर्थात् मूलाधार में हवन द्वारा आत्म-तत्वात्मक 'स्थूल-शरीर' का शोधन किया जाता है। इससे स्थूल-देह तथा 'आत्म'-तत्व की शुद्धि होती है। स्थूल-देहाभिमान दूर हो जाता है।

हवन के मन्त्र में "आणव-मल-शोधनार्थ" ऐसा कहा जाता है। अतः आणव मल क्या वस्तु है, इसे समझना आवश्यक है। अणु का अर्थ अज्ञान है। यह मल का विशेषण है अर्थात् अज्ञान से उत्पन्न मल (दोष या विकार)। १ चैतन्य-स्वरूप आत्मा में 'आत्मत्व' का ज्ञान न होना तथा २ देह में, जो आत्मा नहीं है, 'आत्मत्व' का ज्ञान करना अर्थात् शरीर ही आत्मा है, उक्त दोनों प्रकार की बातें मिलकर 'आणव-मल' कहलाती हैं। दूसरे शब्दों में सदा-शिव को जो अपने विषय के ज्ञान का अविचार है, उसको 'आणव-मल' कहते हैं। अर्थात् सदाशिव 'आणव-मल' से आच्छादित हो अपने को जीव समझ रहा है। वास्तव में वह सदाशिव है।

'आणव-मल' शोधन के पूर्व श्रीगुरुदेव का ध्यान किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सर्व-प्रथम उपासक का मस्तिष्क ठीक रहना चाहिये। अतएव श्रीगुरु का ध्यान किया जाता है, जिससे गुरु-देव शिष्य को सम्हाल लें, उससे कोई त्रुटि न होने दें, यदि हो जाये, तो उसे ठीक कर दें। अतएव लिखा है----'प्रथमे श्रीगुरोर्ध्यानं' इत्यादि।

'सूक्ष्म-शरीर' का शोधन

सूक्ष्म शरीर---१ वाक्, २ पाणि, ३ पाद, ४ गुदा और ५ उपस्थ----पाँच-कर्मेन्द्रिय; १ श्रवण, २ त्वक्, ३ नेत्र, ४ घ्राण और ५ जिह्वा----पाँच-ज्ञानेन्द्रिय; १ आकाश, २ पृथ्वी, ३ जल, ४ तेज और ५ वायु----पञ्च-महा-भूत; १ प्राण, २ अपान, ३ व्यान, ४ उदान और ५ समान----पञ्च-प्राण; १ मन, २ बुद्धि, ३ अहङ्कार और ४ चित्त---अन्तःकरण-चतुष्टय, अविद्या तथा काम-कर्म इनसे बनता है। इसे 'पुर्यष्टक' भी कहते हैं और इसका नाम 'लिङ्ग-शरीर' भी है।

'प्राण' अन्तःकरण का ही वृत्ति-भेद है। इस 'सूक्ष्म-शरीर' में ही वासनाएँ उत्पन्न होती हैं और यही 'लिङ्ग-शरीर' (सूक्ष्म-शरीर) भले-बुरे कर्मों के फल का अनुभव करता है।

यह 'सूक्ष्म-शरीर' दूसरे शब्दों में 'प्राण-मय कोश' है। अर्थात् पाँच-कर्मेन्द्रियों से युक्त यह 'प्राण' ही 'प्राण-मय कोश' कहलाता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ और मन 'मैं' 'मेरा' आदि विकल्पों का कारण 'मनोमय-कोष' है, जो नामादि भेद-कल्पनाओं से जाना जाता है और बड़ा बलवान है तथा पूर्व-कोशों को अर्थात् 'अन्न-मय' और 'प्राण-मय' कोशों को व्याप्त करके स्थित है। कहा गया है कि मन ही अपनी शक्ति से भोक्ता और भोग्यादि प्रपञ्च की रचना करता है। इस प्रकार मन से ही बन्धन की कल्पना होती है और उसी से मोक्ष की। तत्व-दर्शी विद्वान् मन को ही 'अविद्या' कहते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों के साथ वृत्ति-युक्त 'बुद्धि' ही कर्तापन के स्वभाव-वाला 'विज्ञान-मय' कोश' है, जो पुरुष के जन्म, मरण-रूप संसार का कारण है, चित्त और इन्द्रियादि का अनुगमन करनेवाली चेतन की प्रतिबिंब-शक्ति ही 'विज्ञान' नामक प्रकृति का विकार है। 'मैं ज्ञान और क्रिया-वान् हूँ'— ऐसा अभिमान वह निरन्तर किया करता है। यह 'अहं -स्वभाव-वाला 'विज्ञान-मय कोश' ही अनादि-कालीन जीव और संसार के व्यवहारों का निर्वाह करनेवाला है। यह अपनी पूर्व-वासना से पुण्य-पाप-मय अनेक कार्य करता और उनके फल भोगता है तथा विचित्र योनियों में भ्रमण करता हुआ कभी नीचे आता है, तो कभी ऊपर जाता है। जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थायें; सुख, दुःखादि भोग; देहादि में आत्माभिमान; आश्रमादि के धर्म-कर्म तथा गुणों का अभिमान और ममता आदि सर्वदा इस 'विज्ञान-मय कोश' में ही रहते हैं। आत्मा की अति निकटता के कारण यह अत्यन्त प्रकाश-मय है। अतः यह इसकी उपाधि है, जिसमें भ्रम से आत्म-बुद्धि करके यह जन्म-मरण-रूप संसार-चक्र में पड़ता है।

इस प्रकार 'सूक्ष्म-शरीर' के ही नाम 'प्राण-मय कोश', 'मनोमय कोश' और 'विज्ञान-मय कोश' हैं तथा इसके अधिष्ठाता 'लक्ष्मी-नारायण' हैं। कार्मण मल के शोधन द्वारा 'सूक्ष्म-शरीर' का शोधन हृदय में किया जाता है। स्वेष्ट-देवता-रूपिणी चेतना-शक्ति को ठीक विचार-मार्ग पर लगाने के लिए स्वेष्ट-देवता का चिन्तन हृदय में करना नितान्त आवश्यक है।

'कारण-शरीर' का शोधन

कारण शरीर—१ शिव, २ शक्ति, ३ सदा-शिव, ४ ईश्वर और ५ शुद्ध-विद्या—इन ५ 'शुद्ध'-तत्वों से बनता है।

'शिव' स्वाधीन है, जो शक्ति के साथ एक है। शक्ति-शिव की रचना करनेवाली (उत्पादक) इच्छा है। 'सदाशिव'---अनन्त (अपरिमित) आनन्द-मय, आत्म-ज्ञान (आत्म-संवित्) है। 'ईश्वर'----जगत्-ज्ञान है। 'शुद्ध-विद्या'----विश्वात्मा और परमात्मा का भेद-भाव दूर करती है।

माया----१ कला, २ अविद्या, ३ राग, ४ काल और ५ नियति----इन ५ कञ्चुकों (आवरणों) द्वारा कार्य करती है। उक्त कंचुक----१ क्रिया, २ ज्ञान, ३ इच्छा, ४ चित्-शक्ति और ५ आनन्द-शक्ति को क्रमशः आच्छादित कर देते हैं अर्थात् मलिन बना देते हैं। 'शुद्ध-विद्या' इन आवरणों को दूर कर देती है।

'अविद्या' की अज्ञान, अहन्ता आदि वृत्तियाँ 'कारण-शरीर' की वृत्तियाँ हैं। अतः इसे 'वासना-मय शरीर' भी कहते हैं और यह 'शिव-तत्वात्मक' है।

वेदान्त के मत से 'अव्यक्त' नामवाली सत्व-रज-तमोगुणात्मिका 'अविद्या' परमेश्वर की परा-शक्ति है। वही शक्ति 'माया' है। इसी से सम्पूर्ण जगत् पैदा हुआ है। रजो-गुण की क्रिया-रूप विक्षेप-शक्ति से पूर्व-काल से ही समस्त क्रियायें होती आई हैं, जिनसे राग-द्वेषादि मन के विकार उत्पन्न होते हैं। काम-क्रोधादि रजो-गुण के ही धर्म हैं और इनके कारण जीव कर्मों में प्रवृत्त होता है तथा बन्धन में फँसता है। तमो-गुण की आवरण-शक्ति के कारण ही पुरुष को जन्म-मरण (संसार) का बन्धन होता है और यही विक्षेप-शक्ति के प्रसार (फैलाव) का भी कारण है। इसके द्वारा ग्रस्त हुआ पुरुष अति बुद्धि-मान्, विद्वान्, शास्त्रज्ञ होने पर भी, समझाने पर भी नहीं समझता और भ्रम से आरोपित किए गए पदार्थों को सत्य मानता है तथा उनके ही गुणों का आश्रय लेता है।

सत्व-गुण जल के समान विशुद्ध होने पर भी रजो-गुण और तमो-गुण से मिलकर पुरुष के बन्धन का कारण बन जाता है। इसमें प्रति-बिम्बित होकर आत्म-बिम्ब सूर्य के समान समस्त जड़ पदार्थों को प्रकाशित करता है। इसके भेद 'मिश्र सत्व' और 'विशुद्ध सत्व' हैं। 'मिश्र सत्व' के गुण-अमानित्व आदि, यम और नियम, श्रद्धा, भक्ति, मुमुक्षता, दैवी-सम्पद् तथा असत् का त्याग है। 'विशुद्ध-सत्व' के गुण----प्रसन्नता, आत्मानुभव, परम शान्ति, आत्यन्तिक आनन्द और परमात्मा में स्थिति हैं। इनसे पुरुष नित्यानन्द-रस को प्राप्त करता है।

सत्व, रज और तमो-गुण के उपर्युक्त निरूपण से अव्यक्त का वर्णन किया गया है। यही आत्मा का 'कारण-शरीर' है। इसकी अभिव्यक्ति की अवस्था 'सषुप्ति'-अवस्था है, जिसमें बुद्धि की सम्पूर्ण वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं। सुषुप्ति अर्थात् गहरी निद्रा, जिसमें मनुष्य स्वप्न भी नहीं देखता। इस अवस्था में सब प्रकार का ज्ञान (प्रमा) शान्त हो जाता है और 'बुद्धि' बीज-रूप से ही स्थिर रहती है।

१ जाग्रत्, २ स्वप्न और ३ सुषुप्ति ––जीव की चेतनता की इन तीन दशाओं के अधिष्ठाता क्रमशः १ विश्व, २ तैजस् और ३ प्राज्ञ कहलाते हैं। कर्मों का फल इन तीन अवस्थाओं में सब व्यक्तियों को सम-रूप से भोगना पड़ता है। ये अवस्थायें 'प्रज्ञानावस्था' कहलाती हैं। 'कारण-शरीर' की अवस्था सुषुप्त्यवस्था है। जीव अपने पूर्व कर्मों का फल-भोग जाग्रत् और स्वप्नावस्था में भोगता है। सुषुप्त्य-वस्था में प्राप्त होकर किञ्चित् काल के लिए अचेतनावस्था में ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है। किन्तु पुनः अवशिष्ट कर्म-भोग के कारण उन्हीं अवस्थाओं में पतित हो जाता है। इस प्रकार वहीं नियमानुकूल प्रतिदिन मृत्यु-पर्यन्त भ्रमण करता रहता है और पुनः उत्पन्न होता है तथा मरता है। इस प्रकार यह क्रम प्रवर्तित रहता है।

जीव सुषुप्त्यवस्था में ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है, इस बात को वेदान्ती लोग भी मानते हैं। 'आनन्द-मय कोश' की उत्कट (तीव्र) प्रतीति 'सुषुप्ति' में ही होती है। तथा जाग्रत् और स्वप्न में भी अपनी इष्ट-वस्तु के दर्शन आदि से उसका यत्किञ्चित् भान होता है। आनन्द-स्वरूप आत्मा के प्रति-बिम्ब से चुम्बित तथा तमोगुण से प्रकट हुई वृत्ति को 'आनन्द-मय कोश' कहते हैं। वह––१ प्रिय, २ मोद और ३ प्रमोद––इन तीन गुणों से युक्त है और अपने अभीष्ट पदार्थ के प्राप्त होने पर प्रकट होती है।

इस 'सुषुप्ति'-अवस्था को 'सम्मदावस्था' अथवा 'सौषुप्ति' भी कहते हैं। 'सुषुप्ति-अवस्था' में जीव की चेतना का अधिष्ठाता 'प्राज्ञ-पुरुष' कहाता है। 'आनन्द-मय कोश', चित्त (महत्तत्व), कारण शरीर के सम्बन्ध से ही शबल-स्वरूप आत्मा की संज्ञा 'प्राज्ञ पुरुष' होती है। 'आनन्द-मय कोश'-रूप

अज्ञान का आचरण ही जीव का 'कारण-शरीर' कहलाता है। इस 'कारण-शरीर' सहित आत्मा को 'प्राज्ञ-पुरुष' कहते हैं। इस 'शिव'-तत्वात्मक 'कारण-शरीर' का अधिष्ठाता श्रीविद्या-शङ्कर है। 'मायिक मल' के शोधन के द्वारा कारण-शरीर का शोधन किया जाता है। इसके लिए शिर में 'शिव'-तत्वों का शोधन 'प्राणायाम' द्वारा किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि उपासक की सुषुम्णा नाड़ी के बहने पर 'कुण्डलिनी-शक्ति' जाग्रत् हो उठती है। इस अवस्था में व्यावहारिक कर्म सब निष्फल हो जाता है और केवल मुक्ति-साधन कर्म की सफलता प्राप्त हो जाती है।

महा-कारण शरीर का शोधन

'महा-कारण शरीर' षट्-त्रिंशत्-तत्वात्मक अर्थात् २४ चौबीस 'आत्म'-तत्व--प्रकृति-तत्व से लेकर पृथ्वी-तत्व-पर्यन्त, जो कि अशुद्ध तत्व माने जाते हैं तथा सात 'शुद्धाशुद्ध तत्व'–'माया-तत्व' से लेकर 'पुरुष-तत्व' पर्यन्त और पाँच 'शुद्ध-तत्व'–'शिव-तत्व' से लेकर 'शुद्ध-विद्या-तत्व' पर्यन्त--सब छत्तीस तत्वों से मिल कर बना हुआ है। सर्व-तत्त्वात्मक, सर्व-देहाभिमानी अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीराभिमानी जीवात्मा ही 'महा-कारण शरीर' है। जब यह जीवात्मा 'तुर्या'-दशा में प्राप्त होता है, तब इस जीवात्मा की उपाधि 'महा-कारण शरीर' कहाती है। शास्त्रों में लिखा है कि सर्व-देहाभिमानी जीवात्मा मल-त्रय से रहित होकर परमात्मा बन जाता है अर्थात् दोनों की एकता हो जाती है, दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।

इस प्रकार 'विश्व-तैजस-प्राज्ञ' पुरुष-स्वरूप तथा सरस्वती, हिरण्यगर्भ लक्ष्मी-नारायण और विद्या-शङ्कर-स्वरूप, मल-त्रय-शोधनार्थ, स्थूल-सूक्ष्म-कारण और महा-कारण-स्वरूप जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता के लिये सर्व-तत्वात्मक सर्व-देहाभिमानी जीवात्मा का शोधन किया जाता है। इसके लिए शास्त्रों के निर्देश के अनुसार 'जप' करना चाहिए। इसका कारण यह है कि 'सुषुम्णा-नाड़ी' की प्रवहन-क्रिया के समय मनन करने से मन का वेग स्थिर हो जाता है।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं को जप-पूर्वक भोगते-भोगते साधक को शुद्ध विद्या-तत्व की चमत्कार-रूपा तुर्यावस्था स्वतः प्राप्त हो जाती है।

तुर्यावस्था के अनन्तर पाँचवीं 'तुर्यातीता' नाम की अवस्था का वर्णन किया गया है। इसके विषय में लिखा है कि यह अवस्था तुर्यावस्था के दृढ़ अभ्यास से उत्पन्न होती है। अतः तुर्यावस्था के अन्तर्गत 'जप' का अभ्यास दृढ़ होने पर 'तुर्यातीता अवस्था' को प्राप्त साधक चिन्मात्र आनन्द-स्वरूप भगवान् शिव के समान हो जाता है।

मनुष्य की उन्नति और 'पूजा'

"मनुष्य महत् की पूजा करके उन्नत होता है। कारण महत् की पूजा करने से पूजा करनेवाले का 'चित्त' महद् भावों से परिपूर्ण हो उठता है। महत् की वास्तविक पूजा तभी सम्पन्न होती है, जब महत् के समुन्नत भाव चित्त में सुचारु रूप से संक्रमित होते हैं। कुछ व्यक्ति दीर्घ-काल तक महत् की पूजा करते हुये भी उन्नति नहीं कर पाते, कारण उनके द्वारा यथार्थ भाव से महत् की पूजा नहीं होती। यथार्थ भाव से एकमात्र महत् की पूजा द्वारा ही मनुष्य मनुष्यत्व के चरम लक्ष्य पर पहुँच सकता है।"

(संकलित)

पूजा-संकेत

हिन्दुओं की 'पूजा' कतिपय कायिक, वाचनिक और मानसिक क्रिया-समूह की एक सामूहिक संज्ञा है, जिसके द्वारा मनुष्य आत्म-स्वरूप का वास्तविक परिचय प्राप्त करता है। 'पूजा' मुख्य रूप से ध्यान और आवाहन से आरम्भ होकर उद्वासन में समाप्त होती है। दूसरे शब्दों में देवता के उद्वासन-पर्यन्त जितनी क्रियायें होती हैं, वे सब 'पूजा' में सन्निहित हैं। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इसके किसी एक अङ्ग को मुख्य बनाकर भी हम अपने सर्वोच्च लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं। जैसे ध्यान, जप इत्यादि।

इस प्रकार जीव और 'पर-शिव' की एकता की खोज ही हिन्दुओं की पूजा का एक-मात्र तात्पर्य है। 'अपरा-पूजा' में पूजा का यह तात्पर्य अस्पष्ट रहता है किन्तु 'परा' और 'पराऽपरा' पूजा में 'पूजन' की प्रत्येक छोटी-बड़ी क्रिया आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, गन्ध, आभरण, धूप, दीप, नैवेद्य, होम, स्तव, प्रदक्षिणा, प्रणाम, विसर्जन आदि द्वारा बार-बार यही स्पष्ट होता है।

हिन्दुओं की पूजा के विभिन्न अङ्गों के उक्त सङ्केत को समझ न पाने के कारण प्रायः हम लोगों को पूजन की क्रियाओं के सम्बन्ध में भ्रम होता है। एक कवि ने इस भ्रम को अपनी कविता द्वारा बहुत सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया है—

व्यापक है जो विश्व में जगदाधार पवित्र। उसका आवाहन कहाँ किया जाय, हे मित्र ?॥१
जड़-जंगम सब जगत को जिसका ही आधार। आसन उसको दें कहाँ, सूझे नहीं विचार॥२
स्वच्छ निरञ्जन निरामय है जो सभी प्रकार। कहो उसे क्यों चाहिए अर्घ्य-पात्र की धार ?॥३
जो स्वाभाविक शुद्ध है, जो निर्मल भगवान। स्नान और आचमन का क्यों चाहिए विधान ?॥४
भरा हुआ है उदर में जिसके यह ब्रह्माण्ड। फिर क्यों आवश्यक उसे तुच्छ वस्त्र का खण्ड ?॥५
जाना जा सकता नहीं जिसका कुछ आकार। पहनायें कैसे उसे यज्ञ-सूत्र का हार ?॥६
सुन्दरता का हेतु जो, जो जीवन-आधार। कहो उसे क्यों चाहिए अलंकार-उपहार ?॥७
जिसे नहीं है वासना, जो सब विधि निर्लेप। पुष्प-वास क्यों चाहिए, क्यों चन्दन का लेप ?॥८
जो विश्वम्भर तृप्त है, परिपूरण सब काल। है उसके किस काम के नैवेद्यों का थाल ?॥९
जो स्वामी त्रैलोक्य की सम्पत्ति का है एक। उसे 'दक्षिणा' की भला कहो कौन है टेक ?॥१०
नहीं जान पड़ता कहीं जिसका पारावार। कैसे करें प्रदक्षिणा उस अनन्त की यार ?॥११
अद्वय जो सर्वेश है, नहीं स्वरूप न नाम। नहीं समझ पड़ता करें कैसे उसे प्रणाम ?॥१२
जिसके गुण गाते हुये वेद हुए हैं मौन। उसका कीर्तन जगत में कर सकता है कौन ?॥१३
पाते हैं रवि, शशि, अनल जिससे प्रखर प्रकाश। कहो, उसी को कहाँ से लावें दीप-उजास ?॥१४
भीतर-बाहर पूर्ण जिसका है रूप अनूप। करें विसर्जन हम कहाँ, उसका वहीं स्वरूप ?॥१५
पूजा के ये देखिये हैं षोडश उपचार। प्यारे पाठक ! कीजिये इनका खूब विचार॥१६

अर्थात् जो सर्व-व्यापी है, उसका आवाहन किस प्रकार हो सकता है ? और जिसका रूप विराट् है वह एक यन्त्र, मूर्त्ति वा घट जैसे अति संकीर्ण स्थान में किस प्रकार रह सकता है ? जिसके एक-एक रोम-कूप में ब्रह्माण्ड हैं, उसे बैठने को कौन-सा आसन दें ? जो स्वयं स्वच्छ और शुद्ध है, उसको पाद्य, अर्घ्य और आचमन की आवश्यकता क्या है ? जो सर्व-शुद्ध और निर्मल है, उसका स्नान कैसा ?

जो विश्वोदर अर्थात् जिसके अन्दर समस्त विश्व है, उसको वस्त्र कैसे पहनाया जाये जो निरालम्ब अर्थात् जिसका आकार-रूप आधार नहीं है, उसको यज्ञोपवीत कैसे दें ? निर्वास को पुष्प, निर्लेप को गन्ध और रम्य अर्थात् स्वतः-सुन्दर को आभूषण की क्या आवश्यकता है ? नित्य-तृप्त को नैवेद्य और ताम्बूल क्यों कर दें ? अनन्त की प्रदक्षिणा कैसे हो ? अद्वय वा निर्द्वन्द्व को प्रणाम वा नमस्कार कैसा ? उसकी स्तुति ही कैसी, जब वेद भी उसको नहीं जानता ? जो स्वयं प्रकाश है, उसको नीराजन वा दीप दिखलाना कैसा ? जो भीतर-बाहर अर्थात् सर्व-व्यापी है, उसका विसर्जन किस प्रकार करें ?

इस अवस्था में यहाँ आवाहन आदि उद्वासन-पर्य्यन्त पूजा के उपचारों को सङ्केत के अनुसार संक्षेप में स्पष्ट किया जा रहा है—

१ आवाहन—सर्व-व्यापकत्व-लक्षण-सिद्ध की विशिष्ट स्थान में धारणा । पर-शिव का नियत स्थान हृदय ही है । अतएव हृदय से आवाहन कर यन्त्र आदि में प्रतिष्ठा होती है । तात्पर्य यह है कि हृदय वा ज्ञान-द्वारा उसकी स्थिति का बोध यन्त्रादिक में करते हैं । नहीं तो जो पहले से उपस्थित है, उसका आवाहन कैसा ?

२ आसन——अपरिच्छिन्न भाव से अपने में प्रतिष्ठित करना ।

३ पाद्य——आकाशादि पञ्च-तत्वों से बने प्रपञ्च के स्थूल-रूप के पाद—नाम और रूपात्मक मल को सच्चिदानन्द से एकात्मक भावना-रूपी जल से धोना । अर्थात् नाम और रूप से बनी माया को सच्चिदानन्द का अचिद् अंश मानकर दोनों को एक मानना । 'पर-शिव' चित् और अचित् दोनों है । यदि उसको केवल चित् मानते हैं तो प्रपञ्च, जो अचित् है, उससे भिन्न हो जाता है । इससे उसके निर्द्वन्द्व होने में बाधा पहुँचती है ।

४ अर्घ्य——यह भी पाद्य के समान उसी भाव से हाथ का धोना है ।

५ आचमन—उसी प्रकार जल का भी पर-शिव में लय मानना है । अर्थात् जल भी पर-शिव ही है । इस भाव से जल का कवलीकरण वा एकीकरण है आचमन ।

६ स्नान——सत्व, चित्व और आनन्दत्व आदि समस्त अवयवों के अवच्छेद से भावना के जल-सम्पर्क का रूप ही 'स्नान' है ।

७ वस्त्र—धर्मी के समस्त धर्म्मों वा अवयवों की वृत्ति-विषयत्व की भावना । वृत्ति-विशेष का द्योतक ही वस्त्र-विशेष है । नहीं तो दिगम्बरा वस्त्र-हीना है ।

८ आभरण—निर्विषयत्व, निरञ्जनत्व, अशोकत्व, अमृतत्व आदि अनेक-रूपक धर्मों की धर्मी से अभेद-भावना ।

९ गन्ध——पृथ्वी का विशेष गुण । अतएव अपने शरीर के पृथ्वी-भाग अर्थात् पार्थिवांश के जड़-भाग को हटाकर चित् मात्र का ही अंश रखना । तात्पर्य्य कि पार्थिवांश जड़ वा अचिद् अंश को चिदांश समझकर अपने को भी चित् ही समझना ।

१० पुष्प——स्व-शरीर के पार्थिवांश की तरह आकाश-अंश की भी उसी प्रकार की भावना करना ।

११ धूप—इसी प्रकार वायु-अंश की भावना ।

१२ दीप—इसी प्रकार तैजस-अंश की भावना ।

१३ नैवेद्य—इसी प्रकार अमृतांश की भावना ।

१४ ताम्बूल--चन्द्र-मण्डल की सोलह कलाओं की इसी प्रकार की भावना।

१५ स्तव—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी—समस्त शब्दों का नाद द्वारा 'पर-शिव' में उपसंहार-चिन्तन ही स्तव है। अर्थात् वाचा और मनसा 'पर-शिव' से अपना तादात्म्य-चिन्तन।

१६ प्रदक्षिणा--विषयों में दौड़ती हुई चित्त-वृत्ति की विषय-जड़ता के निरसन से 'पर-शिव' में उसको लय करना। अर्थात् विषय-विशेष में यानी 'पर-शिव' में चित्त के विजातीय प्रवाहों को रोक-कर सजातीय प्रत्यय-प्रवाह को निरन्तर-रूप से प्रवाहित रखना।

१७ प्रणाम--विषयों से चित्त-वृत्ति को हटाकर केवल एक 'पर-शिव' में लीन करना अर्थात् खण्डाकार चित्त-वृत्ति को अखण्डाकार कर देना।

१८ उद्वासन वा विसर्जन--यह पूजा की समाप्ति पर होता है। यह ज्ञान का द्योतक है। इस ज्ञान से पूर्ण सन्तोष होता है। अतएव श्रुति की एक परिभाषा यह भी है कि पूर्ण सन्तोष ही विसर्जन है। पद्धति कहती है कि हृदय में विसर्जन करे, तात्पर्य कि अब कोई कर्म करना शेष नहीं है, इस भाव का निश्चय ज्ञान हो जाय।

ऐसी भाव-मयी 'पूजा' को महा-याग' कहते हैं। इसमें जीव ज्ञानेन्द्रिय-द्वारा बोधित विषयों का 'पर-शिव' में समर्पण करता है और अपने को द्रष्टा मात्र समझता है। इससे वह जीवन्मुक्त हो जाता है। यही मनो-व्याधि की सर्व-श्रेष्ठ औषधि है।

'पूजा-संकेत' यही है। इसको जो जान लेता है और इस ज्ञान को दृढ़ करता है, वह साक्षात् 'शिव'-स्वरूप होता है।

'पूजा' का प्रभाव

"शरीर की पुष्टि के लिए जैसे हम व्यायाम करते हैं, अस्तित्व के विकास के लिए वैसे ही मान-सिक अनुशीलन का प्रयोजन है। यह अनुशीलन ही साधना, पूजा और अर्चना है।

हिन्दुओं के सर्व अनुष्ठान अस्तित्व के विकास के लिए ही हैं। बाह्य क्रिया-काण्ड कर्म-जगत् में बहुत आवश्यक हैं। देह के द्वारा बाह्य-अर्चना और आत्म-ध्यान-धारणा के द्वारा की गई उपासना, स्तोत्र-वन्दना हिन्दुओं की 'पूजा' के ही अङ्ग हैं।

हिन्दुओं की 'पूजा' मनुष्य के सुख, अन्तर-शक्ति का विचित्र विकास करने के लिए सिद्ध-हस्त है। परमानन्द लाभ करने के लिए, जागतिक कष्ट दूर करने के लिए, संसार की त्रि-ताप ज्वाला से मुक्त करने के लिए यह आज भी एक-मात्र अवलम्बन है। इसीलिए भारत में इसका प्रभाव आज भी म्लान नहीं हुआ है।" (सङ्कलित)

हिन्दुओं के एक पूजन-क्रम का संक्षिप्त वर्णन

[पिछले निबन्धों से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दुओं की पूजा-पद्धतियाँ किसी भी प्रकार से निरर्थक नहीं हैं। वे सीधे मनुष्य के सर्वोच्च लक्ष्य से सम्बन्धित हैं। 'कौल-कल्पतरु'शुक्ल जी के प्रस्तुत निबन्ध द्वारा हिन्दुओं को पूजा-पद्धति की इस विशेषता को प्रामाणिक रूप में दर्शाया गया है। —सं०]

शाक्त-धर्म आगमोक्त धर्म है। आगमों में उसका विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। उन्हीं पवित्र श्रुति ग्रन्थों में शाक्त-धर्म की एक विशिष्ट पूजा-पद्धति वर्णित है। शाक्त-समाज में वह पूजा-पद्धति 'नित्यार्चन' के नाम से प्रसिद्ध है। यह अर्चन-क्रम शाक्त-धर्म के पाँच सिद्धान्तों पर आधारित है। वे सिद्धान्त हैं——१ स्थान-शुद्धि, २ शरीर-शुद्धि, ३ द्रव्य-शुद्धि, ४ देव-शुद्धि और ५ मन्त्र - शुद्धि। यह नित्यार्चन एक प्रकार से तीन भागों में विभक्त है। पहले भाग में–१ स्थान-शुद्धि और २ देह-शुद्धि का विधान है। दूसरे में अन्तर्यजन है। तीसरे में बाह्य-यजन है। इसी में ३ द्रव्य-शुद्धि, ४ देव-शुद्धि और ५ मन्त्र-शुद्धि आदि की प्रक्रियाएँ आती हैं। अन्त में पूजा का विसर्जन होता है।

यह सारा अर्चन भाव-प्रधान है। इसमें किसी प्रतीक का सहारा नहीं लिया जाता । सारी पूजा में साधक को ध्यान-मग्न रहना पड़ता है। ऐसा करने पर ही परमानन्द की उपलब्धि होती है और तभी वह इष्ट के सान्निध्य का अनुभव करने में सफल-मनोरथ होता है। इसी से तन्त्र-ग्रन्थों में इसे 'महा-पूजा' की पदवी दी गई है। इसमें सन्देह नहीं, यह है भी ऐसी ही।

शाक्त-साधना के लिए एक विशिष्ट स्थान होता है। जहाँ-तहाँ बैठकर उसकी यह साधना नहीं की जाती। इसी से सद्-गृहस्थ के घरों में एक अलग ही पूजा-गृह होता है। विज्ञ साधक ऐसे ही पूजा-गृह में बैठकर अपना नित्यार्चन किया करते हैं।

साधक भले प्रकार स्नान कर तथा पूजन के उपयुक्त स्वच्छ वस्त्र पहन कर अपने पूजा-गृह के द्वार पर पहुँच कर वहाँ यथा-क्रम तथा यथा-विधि द्वार-देवताओं का पूजन करता है। इसके बाद वह पूजा-गृह में प्रवेश कर पूजा-स्थान का शोधन करता है। फिर जिस स्थान पर बैठकर पूजन करना होता है, उसे अभिमन्त्रित कर उस पर आसन बिछा कर उस पर बैठता है। फिर यथा-स्थान पूजा-सामग्री स्थापित कर उसका प्रोक्षण कर पूजा के लिए सङ्कल्प करता है। फिर अपने कुल-क्रम के अनुसार आचमन कर पूजा के निर्विघ्न समाप्त होने के लिए गुरु, गणेश और इष्ट-देवता को नमस्कार करता है।

अब साधक शरीर के शोधन की प्रक्रिया में संलग्न होता है। इसके लिए वह प्राणायाम, भूत-शुद्धि, प्राण-प्रतिष्ठा तथा मातृका-न्यास आदि क्रियायें करके अपने शरीर को भली प्रकार शुद्ध कर देव-भाव से अभिभूत होता है।

देव-भाव से पूर्ण होकर अब साधक देवता का अपने भीतर यजन करने के लिए इष्ट-मन्त्र के विनियोग, श्रौर ऋषि आदि के विभिन्न प्रकार के न्यास कर चुकने पर इष्ट-देवता का अपने हृदय-कमल में ध्यान करता है। इसके बाद सोलह प्रकार के मानसिक उपचारों से उसका पूजन करता है। तदनन्तर मानसिक हवन करके वह मानसिक बलि-प्रदान भी करता है। तदनन्तर वर्ण-माला में वह इष्ट-मन्त्र का जप करता है। इसके बाद जप-फल देवता को समर्पित करके वह अन्तर्यजन समाप्त करता है। इसी पूजा को 'अन्तर्याग' तथा आनन्द-दायिनी-पूजा भी कहा गया है।

अन्तर्याग कर चुकने पर साधक उत्साह से भरकर इष्ट-देवता को मन्त्र द्वारा बाहर लाकर उसकी पूजा करने की व्यवस्था करने में संलग्न होता है। इसी को 'बाह्य-यजन' कहते हैं। इसके लिए साधक 'सामान्य अर्घ्य-पात्र' की स्थापना करता है। फिर 'कलश' को स्थापित कर उसके द्रव्य में, सृष्टि-रचना के प्रारम्भ में पर-ब्रह्म अपने को जिन दो स्वरूपों में सर्व-प्रथम व्यक्त करता है, उनका आनन्द-भैरव और आनन्द-भैरवी के रूप में आवाहन और पूजन कर वह उनके संयोग से कलश के द्रव्य को अमृत में परिणत करता है। इसके लिए वह वैदिक तथा तान्त्रिक मन्त्रों से उसे भाव के साथ अभिमन्त्रित भी करता है। इस कलश की स्थापना से जहाँ वह पर-ब्रह्म की साकार रूप में पूजा करता है, वहाँ वह कलश में स्थापित प्रथम तत्व का शोधन भी करता है। इसके बाद द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम तत्व का शोधन करता है।

'द्रव्य-शोधन' कर चुकने पर साधक इष्ट-देवता के मुख्य अर्चन के लिए कतिपय पात्रों की स्थापना करता है। पहले वह श्रीपात्र या विशेषार्घ्य की स्थापना करता है। इसके बाद गुरु, भोग, शक्ति, योगिनी, वीर, वलि आदि पात्रों की स्थापना करता है। सम्प्रदाय-भेद के अनुसार इन पात्रों की संख्या में भारी भेद है। नौ से लेकर अठारह पात्रों की व्यवस्था की गई है। परन्तु लोग प्रायः तीन ही पात्र–गुरु, भोग और शक्ति-पात्र की स्थापना कर अपना पूजन करते हैं। यह संक्षिप्तीकरण बहुत ही अधिक दोषा-वह है। इससे पूजन का सौन्दर्य तो नष्ट हो ही जाता है, साथ ही पूजा के भावोद्रेक को भी भारी ठेस पहुँचती है। सामान्यार्घ्य के पात्र की स्थापना से लेकर आचमनीय पात्र तक प्रत्येक पात्र की स्थापना करने में अग्नि-मण्डल, सूर्य-मण्डल और चन्द्र - मण्डल की दीप्ति-मान कलाओं का जो पूजन होता है, उससे साधक की भावना में उसके सम्मुख जिन तेज-पुंजों की सृष्टि होती है, उनसे उसकी मनोदशा में आनन्द का जो उद्रेक होता है, वह अनुभव-गम्य ही है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार आनन्द से भरकर साधक इष्ट-देवता के पूजन के लिए अपने आपको तैयार करता है। वह पहले गुरु-पात्र के अमृत से दिव्यौघ, सिद्धौघ, मानवौघ और गुरु-त्रय या गुरु-चतुष्टय का शिरस्थ सहस्र-दल-कमल की कर्णिका में पूजन और तर्पण करता है। इसके बाद अपने हृदय के कमल में श्रीपात्र के अमृत से आनन्द-भैरव व आनन्द-भैरवी का पूजन-तर्पण करता है। तब वह अपने शरीर के तत्वों का मन्त्र पढ़कर शोधन करता है। ऐसा करते समय वह अपने को अर्थात् अपनी आत्मा को तेज-रूप, निष्पाप और गुणातीत समझकर तत्वों का शोधन करता है। तदनन्तर भोग-पात्र का अमृत निजी पात्र में लेकर प्रतिज्ञा के तीन वैदिक मन्त्र पढ़कर तीन बार अमृत-बिन्दु स्वीकार करता है।

इस प्रकार संशुद्ध तथा आत्म-निष्ठ होकर साधक इष्ट-देवता के अर्चन के लिए प्रस्तुत हो श्रीपात्र के परे एक सुन्दर छोटी-सी चौकी पर एक सुन्दर तश्तरी में अष्ट-गन्ध या रक्त चन्दन से इष्ट-देवता का पूजा-यन्त्र बनाकर स्थापित करता है। तब वह उक्त पूजा-यन्त्र के नीचे गन्धाक्षत द्वारा पीठ-शक्तियों का पूजन करता है और यह समझता है कि उक्त पूजन-यन्त्र उक्त पीठ-शक्तियों के ऊपर स्थित है। प्रायः लोग धातु-पत्र पर उत्कीर्ण पूजा-यन्त्र का उपयोग करते हैं, जो उतना फल-प्रद नहीं होता।

अब साधक इष्ट-देवता के आवाहन की क्रिया करता है। वह रक्त चन्दन लगा हुआ एक लाल फूल हाथ में लेकर और कच्छप-मुद्रा बनाकर उसे अपने हृदय के ऊपर स्थापित कर फिर हृदय में पहले ही से स्थित देवता का ध्यान करता हुआ उसे सुषुम्ना-नाड़ी के मार्ग से सहस्र-दल कमल की कर्णिका में ले जाकर शिव-सान्निध्य कराकर सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ही उसे नासा-मार्ग के बाहर लाकर कच्छप-

मुद्रा में स्थित फूल में बिठाता है। फिर उक्त फूल को ले जाकर उक्त पूजा-यन्त्र के बिन्दु में स्थापित करता है और मन्त्र पढ़ता हुआ आवाहनीय आदि पाँचों मुद्राएँ दिखाकर देवता के पूजा-यन्त्र के बिन्दु में स्थित होने की भावना करता है। इसके बाद देवता के षडङ्गों का पूजन कर उसका सकलीकरण करता है। फिर अवगुण्ठन कर देवता के ऊपर फट्कार कर उसका संरक्षण करता है। तब मन्त्र पढ़ता हुआ धेनु-मुद्रा दिखाकर उसका अमृतीकरण करता है। फिर देवता के ऊपर महा-मुद्रा बनाकर यह भावना करता है कि सामान्य अर्घ्य-पात्र का जल उसके ऊपर झर-झर कर गिर रहा है। इस क्रिया से उसका परमीकरण करता है। परमीकरण करने से ही 'देवता की शुद्धि' होती है। इसके बाद योनि-मुद्रा से उसको नमस्कार कर मन्त्र पढ़कर उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करता है।

इस प्रकार देवता के आवाहन आदि की क्रियाएँ कर तथा उसको पूजा-यन्त्र के बिन्दु में प्रतिष्ठित कर पूर्ण आनन्द से भरकर वह उसका षोडशोपचारों से पूजन करता है। आवश्यक मुद्राओं के साथ विभिन्न उपचारों की वस्तुओं से वह देवता का भक्ति-पूर्वक यथा-विधि पूजन कर पूर्ण संतोष का लाभ करता है। षोडशोपचारों से पूजन कर चुकने पर वह देवता के अंग-देवताओं का पूजन-तर्पण करने के लिए उससे आज्ञा लेता है। इसके बाद विभिन्न पात्रों से पूजा-यन्त्र के विभिन्न स्थानों में वह उनका यथा-क्रम पूजन और तर्पण करता है। अंग-देवताओं का पूजन कर चुकने पर वह इष्ट-देवता को, साथ ही अंग-देवताओं को भी धूप, दीप, नैवेद्यादि प्रदान कर उन सबको सन्तुष्ट करता है। वह अपने सम्मुख पूजा-यन्त्र में इष्ट-देवता तथा अंग-देवताओं के विभिन्न साकार रूपों का दर्शन कर अपार हर्ष को प्राप्त करता है। वह अनुभव करता है कि उसके इष्ट-देवता का कितना सुन्दर और भव्य दरबार लगा हुआ है, जिससे उसके हृदय को पूर्ण तृप्ति प्राप्त होती है और इस महान् दैवी दृश्य से उसकी आत्मा को कितनी अधिक तद्-रूपता प्राप्त होती है।

इस प्रकार अर्चन कर चुकने पर साधक अग्नि के तेजो-रूप में देवता का आवाहन कर उसकी पूजा करने के विचार से हवन की व्यवस्था करता है। इसके लिए यथा-स्थान यथा-विधि वेदी बनाकर उसका संस्कार कर उसमें अग्नि का आवाहन कर और अग्नि-देव की यथा-विधि पूजा कर उसके प्रज्व-लित रूप में इष्ट-देवता का आवाहन कर उसका पूजन करता है। फिर इष्ट-देवता को, उसके बाद अंग-देवताओं को क्रमानुसार आहुतियाँ प्रदान करता है। इसके बाद अग्नि-देवता का विसर्जन कर वह आगे का कर्म करता है।

हवन समाप्त कर साधक बटुक आदि पाँच बलि-देवताओं को विधिपूर्वक उनके बलि-भाग प्रदान करता है। फिर भले प्रकार आरातिक सजाकर तथा उसका पूजन कर वह खड़े होकर स्तव पढ़ता हुआ देवता का नीराजन करता है। तदनन्तर स्तव-पाठ करता हुआ वह देवता को पुष्पाञ्जलि प्रदान करता है।

इसके बाद साधक इष्ट-देवता के मन्त्र आदि के जपने का उपक्रम करता है।

पूजा के इस अन्तिम चरण में उसे पूजा की पाँचवीं शुद्धि करनी पड़ती है। अर्थात् उसे अपने 'इष्ट-मन्त्र की शुद्धि' करनी पड़ती है। इसके लिए साधक अपने इष्ट-मन्त्र को मातृका-वर्णों से सम्पुटित कर उसे जपता है। ऐसा करने से मन्त्र की शुद्धि होती है। तदनन्तर वह इष्ट-मन्त्र का विनियोग पढ़कर ऋष्यादि, कर और षडङ्ग के न्यास करता है। फिर देवता का ध्यान करता हुआ माला का पूजन कर मूल-मन्त्र का जप करता है। जप कर चुकने पर जप-फल देवता को समर्पित कर माला का यथा-विधि विसर्जन करता है। इसके बाद कवच, सहस्र-नाम और स्तोत्र का पाठ करता है।

इस प्रकार सविधि पूजा कर चुकने पर साधक पूजा के विसर्जन करने के कार्य में प्रवृत्त होता है। वह सामान्य-अर्घ्य का पात्र उठाकर उसके जल की धार पूजा-यन्त्र पर विराजमान देवता के सिर पर गिराता है। फिर संहार-मुद्रा से यन्त्र का एक फूल उठाकर और उसे सूँघकर यह भावना करता है कि देवता उसके हृदय में आकर विराजमान हो गया है। इसके बाद श्रीपात्र आदि पात्रों का यथा-विधि यथा-क्रम विसर्जन कर उच्छिष्ट भैरव को बलि देकर अन्त में शान्ति आदि स्तोत्रों का पाठ कर पूजा को समाप्त करता है। यह विसर्जन की प्रक्रिया भी कम भाव-भरी नहीं है।

इस महा-पूजा के आरम्भ से लेकर अन्त तक साधक के हृदय में जो महा-भाव आता है, वह वास्तव में परमानन्द-दायक है। उसकी उपलब्धि भाग्य-शाली साधक ही कर पाते हैं, सब कोई नहीं।

आदि-गुरु शङ्कराचार्य
कृत
'पूजन' की रूप-रेखा

[आदि-गुरु शङ्कराचार्य के निम्नलिखित महत्व-पूर्ण वचनों की व्याख्या हेतु पृष्ठ ३४ पर प्रकाशित 'हिन्दुओं की पूजा की प्राप्ति—सिद्धि-राज्य' नामक लेख देखें।—सं०]

सारूप्यं कवचाख्यं च सायुज्यं स्तोत्रमीरितं, सान्निध्यं नाम-साहस्रं त्रितयं परिकीर्तितम्।
कवचं कवच-रूपं स्यात् स्तोत्रं सहचरो भवेत्, सहस्रनाम-स्तोत्रं तु पूजा-स्थाने प्रकीर्तितं।।
पूजा दुर्ग-स्वरूपा स्याद् बलिदानं तु मारणं, मन्त्रो राजा पुरश्चर्या राज्य-सम्पत्तिरीरिता।
सम्पत्त्या तु विना राजा न शोभते महेश्वरि ! सम्पत्ति-मूलमेतद्धि सर्वमेव प्रकीर्तितम्।।
होमो मन्त्रः इति प्रोक्तः पर्जन्यास्त्रं तु तर्पणं, जलं दुर्ग-स्वरूपं वै त्वभिषेकः प्रकीर्तितः।
ब्राह्मण (वीराणां) भोजनं तु दुष्ट-दैत्य-प्रभक्षणं, देवता-गुरु-विद्यैक्यं त्वात्मैक्यं परिभाव्य च।।
सर्व-सिद्धीश्वरो भूत्वा त्रैलोक्याधि-पतिर्भवेत्, यथा च राज-राज्यादौ शत्रु-सैन्य-भयं भवेत्।
सिद्धि-राज्ये महा-देवि ! तथैव परि-कीर्त्तितं, दुर्ग-यन्त्रादिकं देवि! देश-राज्ये यथा मतम्।।
मन्त्रो राजा गुरुर्मन्त्रो गणेशा द्वार-पालकाः, साधनं शव-मुण्डस्य सिंहासनमितोरितम्।
साधकेन यथा कार्यं तेन सर्वं तु सिद्ध्यति, नैमित्तिकं च काम्यं च हय-द्विरदकौ मतौ।।
होम-धूमः पताका स्याज्जपस्तु सिद्धि-भूमिका, सिद्धि-राज्याधिपे देवि! किं न सिद्ध्यति भू-तले।
षोढा-न्यासादिकं सेना देवता राज्य-दायिका, यन्त्रं तु वज्र-दुर्गं जीव-चक्रं त्वभेदकम्।।
कवचादि पुरश्चर्या प्रोक्ता कर्तव्या तु सदा।

हिन्दुओं की पूजा की प्राप्ति–'सिद्धि-राज्य'

[हिन्दुओं की पूजा का उद्देश्य क्षणिक लाभ की प्राप्ति नहीं है। परमानन्द की उपलब्धि, इष्ट का सान्निध्य और साक्षात् शिव-स्वरूप की प्राप्ति हिन्दुओं की पूजा का एक-मात्र लक्ष्य है। प्रस्तुत निबन्ध में कापालिक उद्बोधनानन्द जी ने पिछले पृष्ठ ३३ पर प्रकाशित आदि-गुरु शङ्कराचार्य जी के महत्वपूर्ण वचनों में प्रतिपादित पूजन की रूप-रेखा की व्याख्या द्वारा यही सिद्ध किया है कि हिन्दुओं की पूजा में विभिन्न अङ्गों का समावेश किसी सिद्धि-विशेष के लिए नहीं, अपितु 'सिद्धि-राज्य' की प्राप्ति के लिये है।—सं०]

शाक्त-क्रम की साधना में अनेक अंगों का समावेश होता है। यथा––प्रातःकृत्यादि, न्यास-जाल, अन्तर्यजन, पात्रासादन, इष्ट-पूजन, आवरणार्चन, जप, पञ्चांग-पाठ, हवन इत्यादि तो नित्यार्चन में ही हुए; इसके अतिरिक्त पर्वार्चन, चक्रार्चन, वीर-साधन इत्यादि अनेक अंगों का सम्पादन करने के बाद साधक क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़ता है एवं पूर्णाभिषेक के बाद के साम्राज्याभिषेकादि संस्कारों को प्राप्त करता है। प्रश्न यह है कि आखिर इन सबकी क्या आवश्यकता है। शास्त्र कहता है—'जपात् संसिद्धिः', पर किसके लिए ? यह भी तो सोचिए। अकर्मण्यों के लिए यह मार्ग नहीं है। सिद्धि नहीं प्राप्त करनी है, प्राप्त करना है 'सिद्धि का राज्य', और जैसे राज्य-प्राप्ति के लिए किले, खाईं, तोप, हथियार, रथ तथा साथ-साथ पैसे की भी जरूरत पड़ती है, उसी प्रकार 'सिद्धि-राज्य' को जीतने के लिए भी इन्हीं की जरूरत है। यहाँ सूक्ष्म चीमटी से काम नहीं चलेगा। कवच नहीं पहिनेंगे, सेना नहीं रक्खेंगे, तो पीठ दिखानी पड़ जायगी ! तो आइये, हम अपनी "युद्धोपयोगी सामग्री" को समझें––

'कवचं कवच-रूपं स्यात्'––अपने इष्ट-देवता का 'कवच'-पाठ करना है कवच पहिनना। इतना ही नहीं, 'सारूप्यं कवचाख्यं'––इसी कवच से देवता का सारूप्य प्राप्त करना है। 'स्तोत्रं सह-चरो भवेत्'–– हमारे साथ हमेशा 'स्तोत्र' सह-चर के समान रहेगा अर्थात् उसका हमेशा सर्व-काल में पाठ होता रहे और वह सहचर-वत् हो, तो इससे क्या होगा––'सायुज्यं स्तोत्रमीरितम्'––इससे होगा देवता का सायुज्य; और सान्निध्य प्राप्त होगा सहस्र-नाम का पाठ करने से—'सान्निध्यं नाम-साहस्रं।' इतना ही नहीं, जैसे सब स्थानों में पूजा-स्थान उत्तम है, उसी प्रकार पंचाङ्ग-पाठ में सहस्र-नाम का पाठ उत्तम है––'सहस्रनाम-स्तोत्रं तु पूजा-स्थाने प्रकीर्तितम्।'

हमारा दुर्ग है हमारी पूजा––'पूजा दुर्ग-स्वरूपा स्याद्' और मारना शत्रु को है बलि-दान में–'बलि-दानं तु मारणं' और पैसा क्या है ? 'मन्त्रो राजा पुरश्चर्या राज-सम्पत्तिरीरिता'––हमारे मन्त्र-राज का पुरश्चरण ही हमारी सम्पत्ति है। इसी के आगे कहते हैं कि––

'सम्पत्या तु बिना राजा न शोभते महेश्वरि, सम्पत्ति-मूलमेतद्धि सर्वमेव प्रकीर्तितम्।'

अर्थात् बिना सम्पत्ति के जैसे राजा शोभा को नहीं प्राप्त करता, उसी प्रकार बिना मन्त्र का पुरश्चरण किए (पुरश्चरण-हीन) साधक शोभा को नहीं प्राप्त करता है।

'होमो मन्त्र इति प्रोक्तः'। राजा (सिद्ध) की मन्त्रणा क्या है ? होम (हवन) ही मन्त्रणा है और तर्पण है पर्जन्यास्त्र––'पर्जन्यास्त्रं तु तर्पणं'––पर्जन्यास्त्र मेघ-वर्षा करनेवाला अस्त्र है। पर्जन्य मेघ को कहते हैं। 'जलं दुर्ग-स्वरूपं वै त्वभिषेकः प्रकीर्तितः'–किले के समान रक्षक जल के अभिषेक का इस प्रकार रक्षार्थ प्रयोजन है और ब्राह्मण-भोजन (चक्रार्चन-पंचक) ही दुष्ट सैन्य का भक्षण है––

'ब्राह्मणानां (वीराणां) भोजनं तु दुष्ट-सैन्य-प्रभक्षणम् (चर्वणं शत्रु-मर्दनम्)।

इस ब्राह्मण-भोजन वा वीर-भोजन में ही कुमारी, वटुक, सुवासिनी इत्यादि का पूजन-भोजन आ जाता है। तो देखिये, आपके पुरश्चरण की सभी बातें स्तोत्र, कवच, सहस्रनाम का पाठ, मन्त्र-जप, हवन, तर्पण, अभिषेक, ब्राह्मण-भोजन वा वीर-भोजनादि आ गईं न।

इस प्रकार जो 'देवता-गुरु-विद्यैक्यं त्वात्मैक्यं परिभाव्य च'--जो देवता, गुरु, विद्या की अपने में ऐक्य-भावना करता है, वही 'सर्व-सिद्धीश्वरो भूत्वा त्रैलोक्याधि-पतिर्भवेत्'--सर्व-सिद्धियों का ईश्वर एवं त्रैलोक्य का अधिपति होता है। आइये, आगे बढ़ें--

'यथा च राज-राज्यादौ शत्रु-सैन्य-भयं भवेत्, सिद्धि-राज्ये महा-देवि ! तथैव परि-कीर्तितम्।'

जैसे राजाओं के राज्य में शत्रु-सेना से हमेशा भय लगा रहता है, उसी प्रकार सिद्धि-राज्य में भी भय रहता है। इसीलिए सिद्धि को भी एक विघ्न ही देखा गया है। तो उसके लिए क्या तैयारी करनी है ? किला बनाना है। क्यों ?--'दुर्ग-यन्त्रादिकं देवि ! देश-राज्ये यथा मतम्'--जैसे राज्य में किला बनता है कि उसमें राजा अपने शत्रुओं से सुरक्षित रहे, उसी प्रकार सिद्धि-राज्य का अधिपति इष्ट-यन्त्र का प्रयोग करता है।

यहाँ धारण-यन्त्र एवं पूजन-यन्त्र दोनों से तात्पर्य है। खड्ग-माला कहती है--

'खड्गेन विधिवत् सम्पूज्य हस्तेन धृतेन वै। अष्टादश-महा-द्वीपे साम्राज्य-भोक्ता भविष्यति।'—

अर्थात् जो खड्ग-माला से विधि-वत् यन्त्र की पूजा करके उसे धारण करता है, वह अठारह द्वीप-युक्त महा-द्वीप का सम्राट् होता है एवं साम्राज्य-सुख को भोगनेवाला होता है।

हमारा राजा कौन है ? मन्त्र—'मन्त्रो राजा' और राजा को राय (मन्त्रणा) देनेवाला कौन है ? गुरु—'गुरुः मन्त्री' और राजा का द्वार-पाल वा द्वार-रक्षक (विघ्नों से रक्षा करनेवाला) है स्वयं विघ्नेश या गणपति—'गणेशः द्वार-पालकः।' पीछे कह आए हैं कि आत्मा, विद्या, इष्ट-मन्त्र, गुरु की ऐक्य-भावना रखकर साधना करे। इसीलिए बाएँ कान के पास श्री गुरुदेव को, दाहिने कान के पास गणेश जी को एवं भ्रू-मध्य में इष्ट-देवता को प्रणाम करके तब पूजनारम्भ करे। और हमारा सिंहासन क्या है ?—'साधनं शव-मुण्डस्य सिंहासनमितीरितम्'--शव, मुण्डों का साधन ही हमारा सिंहासन है। 'साधकेन यथा कार्यम् तेन सर्वं तु सिद्धयति'—उपर्युक्तानुसार कार्य करने से साधक सर्व-सिद्धि को प्राप्त कर लेता है वा सर्व-साधनोपरान्त सिद्धि प्राप्त करता है।

अच्छा, अब राजा के रथ का सुनें—'नैमित्तिकं काम्यं च हय-द्विरदकौ मतौ' नैमित्तिक और काम्य कर्म ही रथ के दोनों घोड़े हैं और हवन का धूम्र ही रथ की पताका है—'होम-धूमः पताका स्याद्' और सिद्धि-भूमि (जीत कर पाई जगह) जप है—'जपस्तु सिद्धि-भूमिका।' ऐसे सिद्धि-राज्य का जो अधिपति है, उसके लिए 'सिद्धि-राज्याधिपे देवि! किं न सिद्धयति भूतले' क्या नहीं सिद्ध हो सकता अर्थात् वह सब कुछ करने में समर्थ है। 'षोढा-न्यासादिकं सेना'--षोढा आदि न्यास ही उसकी सेना है। 'देवता राज्य-दायिका'--राज्य देनेवाला उसका देवता है। 'यन्त्रं तु वज्र-दुर्ग'--उसका वज्र-स्वरूप दुर्ग (किला) है उसका यन्त्र और इतनी सब तैयारी है किस चक्र-व्यूह-भेदन के लिए ? 'जीव-चक्रं त्वभेदकम्'—इसी जीव-चक्र का भेदन करना है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करना है–आवागमन से छुटकारा पाना है--जीवन-मरण के चक्र को छोड़कर इष्ट में लय हो जाना है।

जिह्वा दग्धा परान्नेन, हस्तौ दग्धौ प्रतिग्रहात्।
मनो दग्धं पर-स्त्रीभिः, कथं सिद्धिः वरानने॥

असत्य भाषण से भी जिह्वा दग्ध हो जाती है। इसीलिए कम-से-कम पुरश्चरण में तो यम-नियम का पालन आवश्यक है ही। जब तक अनुशासन-पूर्वक साधना नहीं कीजिएगा, तब तक 'न तिष्ठे-न्नियमं—को विधिः को निषेधः' वाली अवस्था पर नहीं जा पाएँगे। उच्छृङ्खलता वीर को शोभा नहीं देती। स्वेच्छाचार हमारे आचार में नहीं आता है। वीर-साधन अनुशासन की पराकाष्ठा चाहता है, तभी सुसंगठित सेना एवं युद्धोपयोगी सामग्री लेकर सिद्धि-राज्य जीता जा सकेगा।

कवच, स्तोत्र, हृदय, उपनिषद्, शत-नाम, सहस्र-नाम का अयुत (१०,०००) पाठ करके १००० आहुतियाँ मूल-मन्त्र से देनी चाहिए। तब १०० तर्पण, १० मार्जन एवं अभिषेक होना उचित है। तत्पश्चात् यथा-शक्ति कुमारी, वीर आदि की पूजा करके श्रीगुरु-देव को प्रसन्न करे। यही सामान्य पुरश्चरण-नियम हुआ। 'कलौ चतुर्गुणो प्रोक्तो' के अनुसार प्रत्येक का चालीस हजार पाठ हो जाय, तो क्या बात ! वह तो सबसे उत्कृष्ट होगा।

इष्ट-मन्त्र एवं न्यास का भी पुरश्चरण अत्यन्त आवश्यक है। न्यास का भी अयुत-संख्यात्मक पुरश्चरण करे। उसके बाद क्रमशः शय्या, विल्व-मूल, कदली-वन, त्रिपथ, चतुष्पथादि में पुरश्चरण करे। हाँ, उसके बाद श्मशान-मुण्डादि साधन के लिए उत्तर-साधक आवश्यक है। पर पहले शुरू तो कीजिए।

सिद्धों के चक्कर में पड़कर अलाउद्दीन के चिराग को मत खोजिए। श्रद्धा-लगन एवं परिश्रम से ही सर्व-साधन साध्य होगा। गुरु-कृपा स्वतः प्राप्त हो जाएगी एवं आप वास्तव में सिद्धि-राज्य पाने के अधिकारी बन जाएँगे ! कुछ चमत्कार इत्यादि देखकर जो लोग साधना करते हैं, वे भी क्षणिक भावना के वशीभूत होने के कारण आगे नहीं बढ़ पाते। यदि 'गोपनीयं' है, तो वह आपकी साधना। उसका उद्घाटन सच्चा साधक कभी नहीं करता। पर देखा यही जाता है कि क्षणिक चमत्कार देखने वा दिखा देने की शक्ति प्राप्त करने के लिए लोग धोखा खाते हैं। फिर भी नहीं चेत पाते। अपने इष्ट-देवता की अहैतुकी कृपा से यदि वास्तव में चमत्कारी बातें हुईं, तो वह इष्ट की विशेष कृपा समझिए एवं उसे अपने साधन को अधिक निष्ठा से करने का संकेत समझिए, न कि लाटरी के टिकट की तरह कि इनाम मिल गया और आप चिल्लाकर लोगों को सुनाने चले। भगवती आप सबको सिद्धि-राज्य का अधिपति बनावे, यही कामना है।

भावना-यज्ञ

"वाग्यज्ञ से भावना-यज्ञ होता है। अतएव जो जिसकी सपर्या-विधि (पूजा-विधि) हो, उसको बाँचने से भाव-प्राप्ति होगी। भाव से उत्कृष्ट वासना जागेगी, लौ भी लगेगी।

भावना-मय यज्ञ हिन्दुओं की मुख्य उपासना है। इसके सहस्रों प्रमाण वेद, ब्राह्मण, तन्त्र, इतिहास सभी में भरे हुये हैं। संकेत समझने में अन्तर हो जाता है। लोगों को खूब सोच-समझकर मूल भावना को हृदयङ्गम करते हुये शास्त्र का मतलब लगाना चाहिये। नहीं तो शास्त्र-रूपी जङ्गल में शङ्का-रूपी सिंह दबोच लेगा, समय निकल जायेगा, साधना कठिन होगी।"

हिन्दुओं
की

पूजा का विवरण

[अपने अन्दर उच्च से उच्च आदर्श की धारणा हिन्दुओं की पूजा का मुख्य ध्येय है। ऐश्वर्य बढ़ाने के लिये व्याप्ति के गुण की आवश्यकता होती है। जो धनाढ्य होकर संकुचित रहता है, उसकी सम्पन्नता स्थायी नहीं होती। इसलिये यह आवश्यक है कि प्रतिदिन हम अपने अन्दर स्थित ऐश्वर्य के भण्डार को अपने आप में व्यापक होने की प्रार्थना करें।

हिन्दुओं की पूजा के अर्न्तगत पूज्यों की स्तुति-पूजा वास्तव में उनके स्वरूप को समझकर उनका उपयोग करना है। अतएव हिन्दुओं की पूजा में जहाँ विभूति-रूपी पूज्यों का मनन-पूजन किया जाता है, वहीं स्वयं विभूति बनने का उच्च लक्ष्य भी रहता है—'देवो भूत्वा देवान् यजेत्।'

हिन्दू-पूजा-विज्ञान के अनुसार विभूतियों के स्वरूप को नित्य अपने सम्मुख रखने से, नित्य विकास सम्भव है। 'पूजा' में निहित विस्तृत अनुभव, पुरुषार्थ, कुशाग्र-बुद्धि, पाप-शून्यता तथा ज्ञान-प्रियता के आधार पर व्यक्ति उच्चतम प्रकाश की अवस्था को प्राप्त कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं।

सद्-भावों के प्रति श्रद्धा होने से मनुष्य उन्हें धारण करने लग जाता है। इन्द्रियों और मन-बुद्धि की शक्तियों द्वारा अन्तर में पूज्यों का मान होने से विकास का विस्तृत मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगता है, इस तथ्य को कोई भी व्यक्ति हिन्दुओं की पूजा द्वारा हृदयङ्गम कर सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति शान्ति और कल्याण चाहता है। सागर-रूपी संसार प्रत्येक क्षण ठाठें मारता है। निस्तार के लिये ऐसी-वैसी टूटी-फूटी नौका काम नहीं देती। जीवन को दिव्य, प्रकाश-मय, ज्ञान-मय नौका बनानी पड़ती है। इन्द्रिय-रूपी सर्व छिद्रों को पूर कर, सद्भावना-रूपी चप्पू और पुरुषार्थ-रूपी बल्लियों को धारण करना होता हैं। हिन्दुओं की पूजा द्वारा जीवन का ऐसा ही स्वरूप उद्‌घाटित होता है। प्रस्तुत विस्तृत विवरण से यह सहज स्पष्ट है।—सं०]

प्रातः-कृत्य

[१] शुभ-विचारों एवं पवित्र भावनाओं की स्थापना

प्रातःकाल उठकर मन में शुभ विचारों की स्थापना करने से दिन भर शुभ विचारों से हमारा सम्पर्क बना रहता है। मन भला तो कर्म भी भले, मन बुरा तो कर्म भी बुरे। चोर-बेईमान सबेरे उठकर सबसे पहिले यही विचार करते हैं कि, किसके घर में कैसे चोरी करें, किसको किस प्रकार ठगें। इसके विपरीत आनन्द-मय स्वरूप प्राप्त करने के लिए अपने जीवन को सद्-भावनाओं से पोषित करते हुए साधक यही विचार करता है किस प्रकार परम-पद की प्राप्ति करूँ, किस प्रकार आत्म-ज्ञान प्राप्त करूँ इत्यादि। इसीलिये हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत प्रत्येक जिज्ञासु के लिए प्रातःकृत्य करना शास्त्रों में आवश्यक बताया गया है।

मनु-स्मृति, अध्याय ४ में कहा है कि—ब्राह्म-मुहूर्त्त या रात्रि के अन्तिम यामार्द्ध में जगकर धर्म और अर्थ का चिन्तन करे, जिससे इन दोनों की सम्पन्नता मिले, इस प्रकार के शारीरिक कष्ट को स्वीकार करे तथा वेद द्वारा प्रतिपाद्य 'पर-ब्रह्म' का निरूपण करे।

ब्राह्म-मुहूर्त्त का परिचय देते हुये मनुस्मृति में कहा है कि––ब्राह्म-मुहूर्त्त अर्थात् रात्रि का अन्तिम यामार्द्ध। रात्रि-काल को आठ भागों में विभक्त करे। अन्तिम भाग को, जिसे भोर का समय कहते हैं, दो भागों में बाँटे। इन भागों में से पहला 'ब्राह्म्य' और दूसरा भाग 'रौद्र' माना गया है। अतः प्रायः चार दण्ड रात्रि रहने पर जो समय होता है, वही ब्राह्म-मुहूर्त्त है।

यामल में कहा है कि––रात्रि के दो दण्ड रहने पर जो समय होता है, उसी का नाम ब्राह्म-मुहूर्त्त है। रात्रि के अन्त में जो आधा प्रहर बचता है, उसके प्रारम्भिक दो दण्ड-काल को ब्राह्म-मुहूर्त्त कहते हैं और बाद के दो दण्ड-काल को रौद्र मुहूर्त्त।

भाव-प्रकाश के पूर्व-खण्ड में कहा है कि––स्वास्थ्य-रक्षा के लिये प्रतिदिन प्रातः शय्या का त्याग करे। पाप-शान्ति के लिये मधु-सूदन का स्मरण करे। प्रत्यूष-काल में मल-मूत्रादि का विसर्जन करना आयुष्कारक है। इससे आंतों में गड़बड़ी, पेट का फूलना और पेट का भारीपन नहीं रहता।

चरक-संहिता में कहा है कि––स्वास्थ्य एवं आयु-रक्षा के लिये प्रतिदिन ब्राह्म-मुहूर्त्त में जागकर शरीर-चिन्ता अर्थात् जीविका-निर्वाह के उपाय का चिन्तन कर शौच-कार्यादि करे।

गौतमीय वचन भी है कि––ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर अपने शिर के सहस्रार के कृष्ण नामक परम-विन्दु में गुरु-देव का ध्यान करे।

दक्षिणामूर्ति-संहिता में––प्रातःकाल उठकर उज्ज्वल कमल को स्मरण कर उसमें कर्पूर जैसी आभावाले, मुस्कान-युक्त मुखवाले द्विभुज, श्वेत-वस्त्रधारी गुरु-देव का ध्यान करे।

नित्या-तन्त्र में कहा है कि––प्रातःकाल उठकर ब्रह्म-रन्ध्र में अपने गुरु को स्मरण कर उनके प्रकाश-मण्डल से अपने को देवी-मय अनुभव करे।

नील तन्त्र, प्रथम पटल में कहा है कि अन्तिम प्रहर में उठकर मूलाधार में ब्रह्म-रन्ध्र तक व्याप्त विस-तन्तु-स्वरूपिणी उग्र-तारा देवी का ध्यान करे।

रुद्रयामल, छठे पटल में कहा है कि––प्रातःकाल उठकर अदीक्षित विद्वान् शिर के कमल में गुरुओं के कल्याणकारी चरण-कमलों का ध्यान करे।

कृष्णार्चन-चन्द्रिका में कहा है कि ब्राह्म मुहूर्त में उठकर पद्मासन से स्थिर होकर शिर में स्थित अधोमुख सहस्रदल-कमल का ध्यान करे।

निबन्ध तन्त्र, १६ वें पटल में कहा है कि––मल-मूत्र के त्याग करने की शङ्का से युक्त रहते हुये जो कर्म करता है, उसके जप-पूजनादि सभी अपवित्र होते हैं।

विष्णु-पुराण में कहा गया है कि––ब्राह्म मुहूर्त में जगकर धर्म और धर्म से अविरुद्ध अर्थ की चिन्ता करे तथा धर्मार्थ को हानि न हो, इस प्रकार काम्य वस्तु की भी चिन्ता करे।

कूर्म पुराण, १८ वें अध्याय में कहा गया है कि—ब्राह्म मुहूर्त में उठकर मन-ही-मन ईश्वर का ध्यान करे। धर्म और अर्थ किस प्रकार प्राप्त हों, इसकी भी चिन्ता करे। फिर उषा-काल में अर्थात् प्रभात के समय यथा-विधि शौचादि क्रिया समाप्त कर पवित्र नदी में स्नान करे।

वामन पुराण में कहा गया है कि––ब्राह्म मुहूर्त्त में जगकर श्रेष्ठ देवताओं और ऋषियों का स्मरण करे।

इस प्रकार शास्त्र की यही आज्ञा है कि प्रातः-काल निद्रा टूटने के बाद मन को प्रफुल्लित करने के लिये पुण्य-वान् व्यक्तियों, मङ्गल-मय पदार्थों आदि के नाम लेने चाहिये। इससे मन प्रफुल्ल होगा

और सद्-भावनाओं से पोषित होकर जो भी कार्य किया जायगा, वह सफल होगा। मन के उदास होने से एवं असद् भावनाओं के प्रवेश से न तो किसी कार्य में सफलता प्राप्त होती है, न ही वास्तविक कर्त्तव्य का बोध होता है। शास्त्र की उक्त आज्ञा का यही उद्देश्य है कि मन प्रफुल्ल हो और वांच्छित कार्य में सफलता प्राप्त हो। इसलिये निद्रा समाप्त होते ही देवताओं और ऋषियों आदि के नामों का अवश्य स्मरण करना चाहिये। इसके लिये अनेक प्रकार के स्तव-स्तोत्रों की रचना हुई है, जिनका पाठ करने से उक्त उद्देश्य की सिद्धि सहज ही हो जाती है। विशेष विवरण के लिए कृपया देखिये 'साधना-रहस्य' पृष्ठ ३७।

[२] 'गुरु' का ध्यान और उनकी मानसिक-पूजा

[हिन्दुओं की नित्य-पूजा का प्रारम्भ 'गुरु' के ध्यान से होता है। हिन्दू शास्त्रों में देह-पूजा के लिये स्थान नहीं है। स्थूल शरीर के माध्यम से सूक्ष्म की तुष्टि होती है। अतएव 'गुरु'-शरीर सेव्य होते हुये भी आराध्य नहीं है। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार 'गुरु'-शरीर में जो दिव्य ज्ञान-ज्योति है, महत् तत्व है, वही आराध्य है। यह दिव्य-ज्ञान-ज्योति, महत्-तत्व प्रत्येक मनुष्य के शरीर में विद्यमान् है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि जब 'गुरु' अपने शरीर में ही है, तो फिर दूसरे की आवश्यकता ही क्या रह गयी? इस प्रश्न का उत्तर शास्त्रों में यह है कि जिस प्रकार देह-रूपी देवालय में आत्मा-रूपी देवता के रहते हुये भी भावना-मय प्रतीकों की आवश्यकता है, ठीक उसी प्रकार सुप्त चेतना को जगाने के लिये, स्व-देह-स्थित दिव्य-ज्ञान-ज्योति में स्फुरता लाने के लिये हमें एक 'साधन' की आवश्यकता है। हिन्दुओं के लिये 'गुरु'-शरीर ही यह साधन है।—सं०]

हिन्दू धर्म-शास्त्रों के अनुसार प्रातः-काल ब्राह्म-मुहूर्त्त में जगकर सबसे पहले अपने मन को पवित्र भावनाओं के द्वारा प्रफुल्ल करे और फिर उसके बाद 'गुरु' का ध्यान और उनकी मानसिक पूजा करनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में एक मत है कि ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर शौचादि से छुट्टी पा 'मन्त्र-स्नान' करके पूजा-गृह में जाकर प्रातः-क्रिया करे।

दूसरा मत है कि शय्या पर बैठकर ही प्रातः-क्रिया कर ले, तब शौचादि से छुट्टी पा स्नान कर अपने देवता के आचार-क्रम के अनुसार तिलक, बिन्दु इत्यादि धारण करे।

जिनके यहाँ देवता की मूर्त्ति या 'यन्त्र' आदि प्रतिष्ठित हैं और जो स्व-भावना-वश बाह्य शौचादि को पवित्रता हेतु मुख्य समझते हैं, उनके लिए पहला मत अनुकरणीय है।

इसके विपरीत जिनकी भावना यह स्वीकार करती है कि शौचादि बाह्य-क्रिया है और इसके पूर्व मानसिक शौचादि आवश्यक है, उनके लिए दूसरा मत अनुकरणीय है।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि हिन्दू धर्म-शास्त्रों में "देवता-गुरु-मन्त्र" एक समान होते हुए भी गुरु-पूजा को इष्ट-पूजा से पहले करने का निर्देश किया गया है क्योंकि एक तो 'गुरु' पथ-प्रदर्शक हैं, दूसरे सभी के आदि-गुरु परम-शिव हैं, जिसके तत्व में 'आत्म'-तत्व और 'विद्या'-तत्व का लय होता है। इसलिए अपनी अज्ञानावस्था को दूर करने के लिए और अन्धकार-रूपी जड़ता को भेदकर प्रकाश फैलाने-वाले 'गुरु' का ध्यान और पूजन सर्व-प्रथम किया जाता है। मानव-देह में सर्व-श्रेष्ठ स्थान 'सहस्र-दल कमल' है। गुरु-देव का ध्यान इसी सर्व-श्रेष्ठ स्थान में किया जाता है क्योंकि अपनी देह के सर्वोच्च स्थान में विमर्श-शक्ति-रूपी 'गुरु' की प्रतिष्ठा हुए बिना आत्म-स्वरूप का बोध होना सम्भव नहीं है।

'गुरु' के ध्यान के सम्बन्ध में प्रायः यह भ्रम होता है कि ब्रह्म-रन्ध्र में स्थित सहस्र-दल कमल यदि अधो-मुखी है, तो उसके मध्य में 'परम-शिव' रूपी गुरु-देव की स्थिति किस प्रकार सम्भव है ? इस भ्रम को दूर करने के लिए यह समझना चाहिए कि सहस्र-दल कमल के नीचे एक ऊर्ध्व-मुखी द्वादश-दल कमल है, जो श्वेत-वर्ण का है। इसी की कर्णिका में विद्युत् के समान चमकीला अकथादि 'त्रिकोण'-यन्त्र है। इस यन्त्र के चारों ओर 'सुधा-सागर' है। उक्त त्रिकोण 'सुधा-सागर' के मध्य में मणि-मय द्वीप के समान है। इस द्वीप के मध्य में मणि-पीठ के समान स्थान है, जिसमें नाद-विन्दु के ऊपर 'हंस-पीठ' स्थित है। इस पीठ के ऊपर 'गुरु-पादुका' है। यहीं 'गुरु' का ध्यान किया जाता है।

इस प्रकार प्रातः-काल ब्राह्म-मुहूर्त में दक्षिण अङ्ग से उठकर शय्या पर ही पद्मासन बाँध सिर के सहस्र-दल कमल में शुक्ल-वर्ण, शुक्ल अलङ्कार-विभूषित, वाम-भाग में स्व-शक्ति से विराज-मान, एक हाथ से वर, दूसरे से अभय देनेवाले द्वि-भुज और द्वि-नेत्र शान्त-मानस श्रीगुरुदेव का ध्यान करे—

सहस्र - दल - पङ्कजे सकल - शीत-रश्मि - प्रभम् ,
वराऽभय - कराम्बुजं विमल - गन्ध - पुष्पाम्बरम् ।
प्रसन्न - वदनेक्षणं सकल - देवता - रूपिणम्,
स्मरेच्छिरसि हंसगं तदभिधान - पूर्वं गुरुम् ।।

गुरु-चरण-कमलों का ध्यान देह-शुद्धि की ऐसी भावना के साथ किया जाता है, जिससे स्व-देह सर्व-दोषों से मुक्त प्रतीत हो और रग-रग दिव्य-भावों से व्याप्त होकर स्व-अस्तित्व साक्षात् प्रकाश-पुञ्ज प्रतीत हो। उत्तम भावनाओं के ऐसे विवरण के लिए निम्नलिखित पद्य देखिये—

गुरु-चरण कमलों का ध्यान

परम तेज परिपूर्ण शुभ्र भृकुटी पर मेरी। रजत सहस-दल कमल ज्योति, जीवन को दे री।।
प्रति-दल से नव प्रभा प्रस्फुटित होती क्षण-क्षण। चकाचौंध आलोक चतुर्दिक, जड़ अरु चेतन ।। १

शत-दल शोभित पद्म ताहि के नीचे सुन्दर। ता पर विन्दु' रु नाद, हंस-मय पीठि मनोहर ।।
श्री श्री सद्‌गुरु पीठ हंस निगमागम पंखन। प्रणव चंचु शिव-शक्ति-पाद नव वाग्भव निस्वन ।। २

कोटि-कोटि रवि उदित आज सहसा दिग अम्बर। श्रीगुरु मूर्ति विराजमान तेहि पे अति सुन्दर ।।
शरद-पूर्ण शशि भव्य, दिव्य आभा आलोकित। सरल स्नेह-वात्सल्य भाव से क्यों आलोड़ित ।। ३

वरद हस्त इक, अभय पाणि उत्थित सुखदायी। श्वेत सुविद्युत धार निकसि चरणन ते धाई ।।
मेरे तनु की एक-एक रग में परिपूरित। होती जाती कलुष, दोष, अघ करि सब दूरित ।। ४

दिव्य ज्योति की धार आज रग-रग में धाई। हुई पूर्ण अदृश्य देह की सब कलुषाई ।।
व्याप्त हो गई दिव्य ज्योति से रग-रग मेरी। फिर-फिर होता तरल ज्योति-धार का फेरा ।। ५

रह न सकी तनु मध्य दिव्य आभा यह अटकी। रोम-रोम से फूट बाह्य तनु में अब छिटकी ।।
मैं प्रकाश का पुञ्ज, प्रकाशित गुरु-प्रकाश से। करता हूँ जग पूर्ण प्रकाशित निज निवास से ।। ६

मैं प्रकाश, आलोक, देह अस्तित्व कहाँ है ? देह हुई अदृश्य, दिव्य आलोक यहाँ है ।।
मैं परिपूर्ण प्रकाश, हुए रवि शशि सब फीके। मुझसे प्राप्त प्रकाश कर रहे ग्रह जगती के ।। ७.

मैं प्रकाश का पुञ्ज, देह मेरा प्रकाश है। भूर्भुवः स्वः मह जन तप सत तक विकास है ॥
मैं अनन्त ब्रह्माण्ड मध्य प्रति पल सञ्चारी। मैं स्वतन्त्र आलोक, पूर्ण तम-कलुष विदारी ॥ ८
मैं पावन, मैं पुण्य, दिव्य मैं, मैं अविकारी। श्री सद्‌गुरु के अर्चन का मैं हूँ अधिकारी ॥
सद्‌गुरु की सत्कृपा आज निर्मल मन पाया। श्री सद्-गुरु का प्रेम उमड़ अन्तर में आया ॥ ९

गुरु को पञ्च-तत्वात्मक मानस-पूजा

उपर्युक्त पद्य के भाव में पूर्णतया तन्मय होकर 'गुरु' का ध्यान सहस्र-दल कमल में करे और फिर 'गुरु' की पञ्च-तत्वात्मक मानस-पूजा करे। गुरु की पञ्च-तत्वात्मक मानस-पूजा का अर्थ यह है कि जीव आत्म-स्थित 'परम-शिव'-रूपी 'गुरु' को अपनी इन्द्रियों के समस्त आनन्द-दायक पाञ्च-भौतिक विषयों का समर्पण कर जड़ता से मुक्त होकर चिन्मात्र-स्वरूप का अनुभव कर सके। संक्षिप्त मानस-पूजा में पृथ्वी-रूप 'गन्ध', आकाश-रूप 'पुष्प', वायु-रूप 'धूप', तेज-रूप 'दीप' और अमृत-रूप 'नैवेद्य' का तात्पर्य इस प्रकार है--

१ भू-तत्व-- अपने शरीर के पार्थिव भाग की जड़ता के दूर होकर चिन्मात्र शेष रह जाने की भावना 'गन्ध' है।

२ आकाश-तत्व--अपने शरीर के आकाश-भाग की जड़ता के दूर होकर चिन्मात्र शेष रह जाने की भावना 'पुष्प' है।

३ वायु - तत्व-- अपने शरीर के वायु-भाग की जड़ता के दूर होकर चिन्मात्र शेष रह जाने की भावना 'धूप' है।

४ अग्नि - तत्व--अपने शरीर के अग्नि-भाग की जड़ता के दूर होकर चिन्मात्र शेष रह जाने की भावना 'दीप' है।

५ जल - तत्व-- अपने शरीर के रसात्मक भाग की जड़ता के दूर होकर चिन्मात्र शेष रह जाने की भावना 'नैवेद्य' है।

पञ्च-तत्वात्मक मानस-पूजा के उपर्युक्त संकेत को हृदयङ्गम करते हुए पञ्च-तत्वात्मकीय पाँचों मुद्रायें दिखाकर 'गुरु' की मानस-पूजा इस प्रकार करे--

लं पृथिव्यात्मकं गन्ध-तन्मात्र-प्रकृत्यात्मने स-शक्तिकाय श्रीगुरवे गन्धं समर्पयामि नमः

निज श्रीगुरु-वर पादुका देव सनेह-समेत। लं-बीजात्मक गन्ध यह स्वीकृत करें सहेत ॥

यह पढ़कर अधोमुख कनिष्ठा और अंगुष्ठ के योग से गन्ध-मुद्रा दिखाये।

हं आकाशात्मक शब्द-तन्मात्र-प्रकृत्यात्मने स-शक्तिकाय श्रीगुरवे पुष्पं समर्पयामि नमः

निज श्रीगुरु-वर पादुका देव सनेह-समेत। हं-बीजात्मक पुष्प यह स्वीकृत करें सहेत ॥

यह पढ़कर अधोमुख तर्जनी और अंगुष्ठ के योग से 'पुष्प-मुद्रा' दिखाये।

यं वाय्वात्मकं स्पर्श-तन्मात्र-प्रकृत्यात्मने स-शक्तिकाय श्रीगुरवे धूपं घ्रापयामि नमः

निज श्रीगुरु-वर पादुका देव सनेह-समेत। यं-बीजात्मक धूप यह स्वीकृत करें सहेत ॥

यह पढ़कर ऊर्ध्व-मुख तर्जनी और अँगूठे से धूप-मुद्रा दिखाये।

रं वह्न्यात्मकं रूप-तन्मात्र-प्रकृत्यात्मने स-शक्तिकाय श्रीगुरवे दीपं समर्पयामि नमः

निज श्रीगुरु-वर पादुका देव सनेह-समेत । रं-बीजात्मक दीप यह स्वीकृत करें सहेत ।।

यह पढ़कर ऊर्ध्व-मुख मध्यमा और अंगुष्ठ से दीप-मुद्रा दिखाये ।

वं अमृतात्मकं रस-तन्मात्र-प्रकृत्यात्मने सशक्तिकाय श्रीगुरवे नैवेद्यं समर्पयामि नमः

निज श्रीगुरु-वर पादुका देव सनेह-समेत । वं-अमृत-नैवेद्य यह स्वीकृत करें सहेत ।।

यह पढ़कर ऊर्ध्व-मुख अनामिका और अंगुष्ठ द्वारा नैवेद्य-मुद्रा दिखाये ।

सं सर्वात्मिकां ताम्बूलादि-सर्वोपचार-पूजां सशक्तिकाय श्रीगुरवे समर्पयामि नमः

निज श्रीगुरु-वर पादुका-देव सनेह समेत । सं-ताम्बूलादिक सभी स्वीकृत करें सहेत ।।

यह पढ़कर ऊर्ध्व-मुख सब अंगुलियों और अँगूठे से सर्वोपचार-मुद्रा दिखाये ।

उक्त पञ्च-तत्वात्मक मानस-पूजा के बाद 'गुरु-पादुका-मन्त्र' का जप दस बार या यथा-शक्ति करना चाहिए । 'गुरु-पादुका-मन्त्र' के जप का अर्थ 'ऐं ह्रीं श्रीं' इन्हीं तीन बीजों में भरा है । इन तीन बीजों का संकेतार्थ अर्थात् आध्यात्मिक तात्पर्य यही है कि इन महा-मन्त्रों के मनन से अविद्या-रूपी विघ्न हटे और 'माया' की अमोघ शक्ति, जो इस विश्व में भरी है, वह मेरे हृदय में श्रेयत्व पैदा करे ।

गुरु-पादुका मन्त्र के जप के बाद जप का समर्पण करना होता है । 'समर्पण' से मतलब है फल-त्याग का सङ्कल्प । फल-त्याग के समर्पण के बिना हृदय में श्रेयत्व की भावना सर्वथा पोषित नहीं हो सकती । श्रेयत्व के फल को ग्रहण करने से व्यक्ति की निज-स्वरूप के बोध की क्रिया मर जाती है और वह कर्म-बन्धन में बँध जाता है । अतएव जप का समर्पण परम आवश्यक है ।

जप का समर्पण करने के बाद गुरु-स्तव का उच्चारण-पूर्वक पाठ किया जाता है । यहाँ स्तव-पाठ का वास्तविक मतलब है परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चार प्रकार के शब्दों के नाद-द्वारा गुरु-रूपी पर-शिव में ऐक्य की भावना । इसी भाव से गुरु का स्तवन किया जाता है—

गुरु-स्तव

शत-दल शुभ्र कमल पर शोभित अति तेजो-मय पीठ ललाम ।
श्रीगुरु-शक्ति अम्ब से संयुत श्रीगुरु उस पर शोभा-धाम ।।

परम कृपा के सिन्धु मनोहर अग-जग व्यापक अति अभिराम ।
उन जग उत्पादक, पालक, संहारक को मम कोटि प्रणाम ।। १

जो कर कृपा दीन-जन-पालक प्रगटे नर-तनु धरि अति दिव्य ।
जग-अज्ञान-तिमिर को नाशा ज्ञानाञ्जन दृग में दे भव्य ।।

सब जग के कारण त्रिगुणों से रहित आर्त्त शिष्यों के अर्थ ।
प्रगटे कोटि प्रणाम करें स्वीकृत मेरे गुरु-देव समर्थ ।। २

मातङ्गी भुवनेशी बगला धूमा भैरवि आदि सभी ।
तारा छिन्न-शिरा श्यामादिक महा सिद्ध-विद्यादि कभी ।।

जिनकी कृपा बिना ये कोई फल देने में हैं असमर्थ।
मेरे कोटि प्रणाम करें स्वीकृत मेरे गुरु-देव समर्थ।। ३

काशी द्वारावती प्रयाग 'रु मथुरा गया तथा हरिद्वार।
पुष्कर औ' उज्जैन कांचि विन्ध्याचल चारों धाम अपार।।
जिनकी कृपा बिना ये कोई मुक्ति-दान में हैं असमर्थ।
मेरे कोटि प्रणाम करें स्वीकृत मेरे गुरु-देव समर्थ।। ४

रेवा सिन्धु तथैव सरस्वति गङ्गा यमुना नदी ललाम।
गङ्गा-सागर सङ्गम एवं महा-नदी सरयू सुख-धाम।।
जिनकी कृपा बिना ये कोई मुक्ति-दान में हैं असमर्थ।
मेरे कोटि प्रणाम करें स्वीकृत वे मेरे गुरु-देव समर्थ।। ५

सत्कीर्ती कविता विद्वत्ता स्वास्थ्य सौख्य-युत तन होना।
श्रेष्ठ वक्तृता-शील सुजनता क्षोभ-रहित नित मन होना।।
केवल जिनकी कृपा मात्र से हो जाते परि-पूर्ण सदर्थ।
मेरे कोटि प्रणाम करें स्वीकृत वे मेरे गुरु-देव समर्थ।। ६

ब्रह्मा विष्णु शम्भु जगदम्बा राम कृष्ण द्विज वय में ज्येष्ठ।
माता पिता पुत्र पति पत्नी यति योगी या कुल में श्रेष्ठ।।
सब मिल जिनकी एक कला की तुलना में भी हैं असमर्थ।
मेरे कोटि प्रणाम करें स्वीकृत वे श्री गुरु-देव समर्थ।। ७

ध्यान, योग, पूजा, जप, तप या दान हवन श्राद्धादिक कर्म।
व्रत या पाठ अतिथि-पूजादिक जितने भी जग में शुभ कर्म।।
जिनकी कृपा बिना ये सारे निष्फल श्रम जैसे हैं व्यर्थ।
मेरे कोटि प्रणाम करें स्वीकृत वे श्री गुरु-देव समर्थ।। ८

ब्रह्म-रन्ध्र में निज गुरु-वर का करके शत-दल ध्यान अमन्द।
परम प्रेम से विह्वल होकर पढ़े पूर्व-मुख यह सानन्द।।
पुरश्चरण के बिना मन्त्र की सिद्धि प्राप्त कर हो कृत-कृत्य।
विघ्न-रहित साधन हो एवं शीघ्र व्यक्त होवे चिर सत्य।। ९

[३] कुण्डलिनी का ध्यान, जागरण और 'अजपा'-जप का समर्पण

[चिर सत्य के शीघ्र व्यक्त होने की भावना-सहित 'गुरु-स्तव' का पाठ करने के बाद हिन्दुओं की पूजा में आत्म-शक्ति 'कुण्डलिनी' का ध्यान कर उसे जाग्रत् किया जाता है और फिर आत्म-मन्त्र 'अजपा' का जप-समर्पण। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं में मनुष्य 'परम-शिव' से अभिन्न है, यह भावना कुण्डलिनी-जागरण और अजपा-जप-समर्पण द्वारा दृढ़ होती है। चिन्मात्र आनन्द-मयी अवस्था को प्राप्त करने के लिये यह सशक्त पूर्वाभ्यास है।—सं०]

'गुरु-स्तव' का भावना-मय पाठ करने के बाद मन-ही-मन गुरु की अनुमति लेकर आत्म-शक्ति कुण्डलिनी का दर्शन किया जाता है। यथा—

कुण्डलिनी का ध्यान

मूल भाग में चार दलों का सुन्दर पद्म विराजे।
तपे हुये सोने के रङ्ग का अति अद्भुत छवि छाजे।।
चारों दल पर दिव्य ज्योति-मय 'व-श-ष-स' हैं वर्णाङ्कित।
मध्य भाग में पीत-वर्ण पर भूमि-बीज 'लं' अङ्कित।।
जिस पर ऐरावत हाथी पर इन्द्र देव-पति राजे।
जिनकी गोदी में बालक ब्रह्मा अति शोभा साजे।।
ब्रह्मा की गोदी में राकिनी ब्रह्म-शक्ति भय-हारी।
भूमि-बीज के पार्श्व-भाग में काम-बीज सुख-कारी।।
इसी क्लीं के मध्य स्वयम्भू-लिङ्ग सुशोभा साजे।
साढ़े तीन लपेटे लेकर 'आद्या' जिस पर राजे।।
कमल-नाल के सूत्र-सदृश अति सूक्ष्म सु-ज्योति स्व-रूपा।
परम तेज परिपूर्ण दिव्य आभा-मयि कान्ति अनूपा।।
सो आद्या, परमेश्वरि, जननी, अखिल विश्व की माता।
ब्रह्म-नाड़ि-मुख की आच्छादक ध्याता अभिमत-दाता।।
सर्पाकृति निज पूँछ लिये मुख सोवत निशि-दिन तन में।
जागत ही अग जग को स्वामी सोइ बनावति क्षण में।।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि सम्पूर्ण प्रातः-कृत्य को करते हुए श्रीगुरु के ध्यान का स्मरण शत-दल पर करते रहना चाहिए। 'कुण्डलिनी' का दर्शन करने के बाद स्व-शरीर स्थित षट्-चक्रों का क्रमशः ध्यान करे। पहले मूलाधार पर दृष्टि ले जाए। वहाँ कामना पूर्ण करनेवाले काम-वीज 'क्लीं' पर अवस्थित स्वयम्भू-लिङ्ग पर लिपटी आत्म-शक्ति कुण्डलिनी का ध्यान कर गुरु-देव द्वारा प्राप्त अपने बीज-मन्त्र से पूरक प्राणायाम करे अर्थात् अपनी साँस भरे। साँस भरते हुए गुदा को ऊपर खीचे एवं जालन्धर-बन्ध को दृढ़ करे। तब मूलाधार से स्वाधिष्ठान तक तीव्र प्रकाश की सूक्ष्म रेखा-वत् आत्म-शक्ति कुण्डलिनी को देखे। पुनः स्वाधिष्ठान से मणिपुर, मणिपुर से अनाहत, अनाहत से विशुद्धि और विशुद्धि से आज्ञा-चक्र तथा आज्ञा से शत-दल के मध्य तक तीव्र प्रकाश रेखा को व्याप्त देखे। यहाँ तक पूरक प्राणायाम है अर्थात् साँस भरता रहे।

अब कुम्भक प्राणायाम अर्थात् साँस रोक ध्यान करे। सहस्रार में आत्म-शक्ति कुण्डलिनी को आनन्द-मय पर-शिव के साथ अवस्थित देखे। आत्म-शक्ति और पर-शिव के मिलन से स्रवित अमृत-धारा से मूलाधार-स्थित 'ब्रह्मा', स्वाधिष्ठान-स्थित 'विष्णु', मणिपुर-स्थित 'रुद्र', अनाहत-स्थित 'ईश्वर', विशुद्धि-स्थित 'सदाशिव' और आज्ञा-स्थित 'पर-शिव' का तर्पण करे। दूसरे शब्दों में समष्टि का व्यष्टि में एकीकरण करे।

इसके बाद जिस क्रम से पूरक किया था, वैसे ही उसके विपरीत क्रम से रेचक करे अर्थात् साँस निकाले। शत-दल से तीव्र प्रकाश-रेखा-वत् कुण्डलिनी के आज्ञा में आने से आज्ञा को दिव्यतम हुआ देखे।

पुन: आज्ञा से विशुद्धि में आने से विशुद्धि को परम दीप्त देखे। विशुद्धि से अनाहत में आने से अनाहत को दिव्य प्रकाश-युक्त देखे और फिर अनाहत से मणिपुर, मणिपुर से स्वाधिष्ठान और अन्त में स्वाधिष्ठान से उतर कर मूलाधार में स्वायम्भुव लिङ्ग से लिपटती हुई कुण्डलनी के दर्शन करे।

इस प्रकार कुण्डलिनी के ध्यान, उत्थान, षट्-चक्र-भेदन और 'पर-शिव'-सामरस्य क्रियाओं के द्वारा हिन्दुओं की पूजा में शरीर-स्थित प्रसुप्त-शक्ति सञ्चालित की जाती है और कञ्चुकित जीव को निष्कञ्चुकित किया जाता है।

'अजपा' मन्त्र का अर्थ और श्वास-रूप जप का समर्पण

इसके बाद 'अजपा जप-समर्पण' की क्रिया है। अजपा मन्त्र है—"हंसः", जिसका जप मनुष्य के द्वारा प्रत्येक श्वास के साथ अनायास ही होता रहता है। इसी का निःश्वास में "सोऽहं" रूप होता है। इसी की भावना करनी होती है। अर्थात् सर्वदा अपने को 'पर-शिव' समझे। "सोऽहं" का अर्थ है "मैं वह हूँ"। यह शिव-भाव है, जिसका मनुष्य अपने प्रत्येक श्वास और निश्वास में अनुभव करने की चेष्टा करता है। इसी 'सोऽहं' भावना की पुष्टि के हेतु सारी क्रियायें की जाती हैं।

अतएव हिन्दुओं की पूजा में प्रातःकाल सबसे पहले देह-शुद्धि की भावना के साथ 'गुरु' का ध्यान कर उनका मानस-पूजन किया जाता है। फिर आत्म-शक्ति 'कुण्डलिनी' के दर्शन-जागरण के द्वारा शरीर-स्थित दिव्य प्रसुप्त-शक्ति को संचालित किया जाता है और उस शक्ति को "सोहं" भावना की प्राप्ति के उद्देश्य से पिछले अहोरात्र (बीते हुये दिन-रात) में किये अपने अजपा-जप को समर्पित करने का सङ्कल्प किया जाता है। रात-दिन में मनुष्य २१,६०० श्वास लेता है। श्वास की साधारण गति यही है। इस २१,६०० श्वास-रूप जप को शरीरस्थ प्रत्येक चक्र में स्थित देवता के कर-कमलों में समर्पित किया जाता है। मूलाधार में गणपति को ६००, स्वाधिष्ठान में ब्रह्मा को ६०००, मणिपुर में विष्णु को ६०००, अनाहत में रुद्र को ६०००, विशुद्धि में जीवात्मा को १०००, आज्ञा-चक्र में परमात्मा को १००० और ब्रह्म-रन्ध्र में गुरु (परम शिव) को १०००=कुल २१,६००। यथा—

"मूलाधार-चक्र" में—'व–श–ष–स' प्रति-दल अङ्कित सुन्दर, रक्त-वर्ण दल चार कमल।
'लं' बीजाङ्कित भूमि-तत्व परि-पीत, वर्ण तेहि मध्य अमल॥
ता पर सिद्धि-शक्ति युत गण-पति, वराभीति कर नाग-वदन।
षट्-शत अजपा जप यह मेरा, करें कृपा कर देव ग्रहण॥ १

"स्वाधिष्ठान-चक्र" में—'व-भ-म-य-र-ल' दल अङ्कित सुन्दर, शुक्ल-वर्ण षट्-दल वारिज।
वं बीजाङ्कित, अर्ध-चन्द्र, जल, शक्ति शारदा संयुत अज॥
वराभीति औ' माल कमण्डलु, धारे जग - पति चतुर्वदन।
षट्-सहस्र अजपा - जप मेरा, करें कृपा कर देव ग्रहण॥ २

"मणिपूर-चक्र" में— 'डादि-फान्त' दल अङ्कित सुन्दर, रक्त-वर्ण दश–दल नीरज।
'रं' बीजाङ्कित अनल त्रिकोणित, रमा-सहित श्री गरुड-ध्वज॥
शेष-नाग शय्या पर पौढ़े, कोटि काम छवि श्याम - बदन।
षट्-सहस्र अजपा जप मेरा, करें कृपा कर देव ग्रहण॥ ३

"अनाहत-चक्र" में—– 'कादि-ठान्त' दल अङ्कित सुन्दर, नील सु-द्वादश दल पङ्कज।
'यं' बीजाङ्कित, अनिल, वृत्त-मय, उमा - सहित श्री वृषभ-ध्वज ।।
हिम हिम-कर, कर्पूर धवल, अति, सुन्दर भस्म - विलेपित तन।
षट्-सहस्र अजपा जप मेरा, करें कृपा कर देव ग्रहण ।। ४

"विशुद्धि-चक्र" में—– स्वर वर्णों से अङ्कित सुन्दर, षोडश - दल शोभित अम्बुज।
'हं' बीजाङ्कित व्योम तत्व में, जीव धूम्र-द्युति धूम्र-ध्वज ।।
सहित अविद्या शक्ति मनोहर, शोभित श्री अग - जग-जीवन।
एक - सहस्र अजपा - जप मेरा, करें कृपा कर देव ग्रहण ।। ५

"आज्ञा-चक्र" में—– द्विदल 'ह-क्ष' वर्णों से अंकित, दीप्त दिव्य-तम भव्य जलज।
'लं' बीजाङ्कित मूल प्रकृति-मय, प्रभा - पूर्ण ता पर शिखि-ध्वज ।।
परम पुरुष, अव्यय, परमेश्वर, परम - शक्ति जग-जीवन धन।
एक - सहस्र अजपा - जप मेरा, करें कृपा कर देव ग्रहण ।। ६

'शत-दल-चक्र" में—– द्वि-गुण मातृका अङ्कित सुन्दर, चकाचौंध आभा शत-दल।
हंस-पीठि पर शोभित सुन्दर, शुभ्र - वर्ण अति-दिव्य अमल ।।
श्रीगुरु-शक्ति अम्ब से संयुत, अति सुन्दर छवि कोटि मदन।
एक - सहस्र अजपा - जप मेरा, करें कृपा कर देव ग्रहण ।। ७

जप-समर्पण के उपरान्त पुनः सङ्कल्प पढ़कर अपने नाम उच्चारण के उपरान्त श्री गुरुदेव की कृपा-प्राप्ति की कामना से आगामी अहोरात्र में २१,६०० अजपा-जप करूँगा—यह सङ्कल्प किया जाता है।

[४] इष्ट-वन्दनादि और दिवा-कृत्य हेतु आज्ञा-प्राप्ति

[हिन्दुओं का प्रातः-कृत्य अथवा शय्या-कृत्य इष्ट-चिन्तन एवं आज्ञा-प्राप्ति से पूर्ण होता है। संक्षेप में प्रातः-काल ब्राह्म-मूहूर्त्त में जगकर अपने मन को पवित्र भावनाओं के द्वारा प्रफुल्लत करके, स्व-देह स्थित दिव्य ज्ञान-ज्योति में स्फुरता लाने के लिये दिव्य-ज्ञान-रूपी 'गुरु' का ध्यान, पूजा व स्तुति करे, फिर आत्म-शक्ति 'कुण्डलिनी' के जागरण द्वारा स्फुरण-प्राप्त दिव्य-ज्ञान-ज्योति से स्व-देह स्थित चेतना के विभिन्न केन्द्रों को परम दीप्त देखे। इसके बाद अपने चिन्मय-स्वरूप की पुष्टि हेतु इन परम दीप्त चेतना-केन्द्रों में श्वास-रूप 'अजपा' जप का समर्पण करे। तब चिन्मय-स्वरूप की पुष्टि के साथ इष्ट-देवता का 'हृदय' में चिन्तन किया जाता है और उनसे तद्रूप होकर संसार-यात्रा चलाने के लिए आज्ञा लेकर शय्या से उठ दिवा-कृत्य हेतु भूमि पर पैर रखकर बाहर जाया जाता है। स्पष्ट है कि यह सब अत्यन्त भावना-मय है। अभ्यास के द्वारा ही क्रमशः विकास सम्भव है।—सं०]

'अजपा'-जप समर्पण के बाद दिवा-कृत्य हेतु हिन्दुओं की पूजा में चित्-शक्ति रूपी इष्ट-देवता का अपने हृदय में ध्यान किया जाता है। फिर प्रातः-स्मरण आदि के पाठ के द्वारा चिन्तन किया जाता है। वस्तुतः चिन्मात्र आनन्द-स्वरूप की प्राप्ति के लिये यह परम आवश्यक है कि हमारे द्वारा क्षण-प्रतिक्षण होनेवाली क्रियायें इन्द्रिय-मन-अहङ्कार के प्रभाव से मुक्त होकर चिद्-शक्ति से प्रभावित 'चितिक्रिया' हों। इसीलिये हिन्दुओं की पूजा में प्रातः-कृत्य की समाप्ति के रूप में सर्व-क्रियाओं के प्रेरक स्थल हृदय में चिद्-शक्ति रूपी इष्ट-देवता के ध्यान, चिन्तन के बाद दैनिक क्रियाओं के सम्पादन के लिये अनुमति ली जाती है। इस निवेदन में भावना यही रहती है कि हम अपने को चिद्-शक्ति - रूपी इष्ट-देवता के प्रति पूर्ण समर्पित कर देते हैं, देखिये निम्नलिखित पद्य—–

नहीं धर्म का ज्ञान मुझे है, नहीं धर्म की इच्छा।
नहीं जानता पाप, नहीं है उसकी जरा अनिच्छा॥
मेरे भीतर बैठी अम्बे! जैसा तू करवाती।
मैं मशीन की तरह वही करता, जो तू कर जाती॥
करनेवाली जब तू मैय्या! तब चिन्ता क्या मुझको?
सुख या दुःख मुझे क्यों हो फिर, जो कुछ चिन्ता तुझको॥
मैं तेरी गोदी में बैठा, चल-चित्रों का दर्शक।
दुःख-दायी है दृश्य कौन सा, या कि कौन सा हर्षक॥
मेरे मात्र मनोरञ्जन को, तूने युक्ति बनाई।
चल-चित्रों की छाया माया, क्रम-क्रम खूब सजाई॥
जो कुछ दृश्य नजर आता है, वह सब एक तमाशा।
निश्चित खेल सभी, कैसी फिर आशा या कि निराशा॥
जब मैं नहीं शरीर स्वयं हूँ—दृश्य भाग मैं यह भी।
जो फिर यह जो कर्म कमाता, खेल मात्र है वह भी॥
नहीं पाप करता कोई मैं, नहीं पुण्य का भागी।
नहीं द्वेष है मुझे किसी से, मैं न और अनुरागी॥
मेरा इतना काम, खेल में—तुझे भूल नहिं जाऊँ।
झूठे दुःख-सुख में न दुखी होऊँ, न कभी हरषाऊँ॥

इस प्रकार चिद्-शक्ति-रूपी इष्ट-देवता के प्रति उक्त समर्पण की भावना के साथ दैनिक कर्मों के लिये शय्या का त्याग करते हुये पृथ्वी पर पैर रखकर बाहर जाते हैं।

दिवा-कृत्य

[५] स्नान

स्नान से बाहरी पवित्रता का ही तात्पर्य्य नहीं है। शास्त्रों में त्रि-काल अर्थात् तीनों सन्ध्याओं में प्रातः-काल, मध्याह्न (दोपहर) और सायं-काल स्नान करने का नियम दिया है क्योंकि भारत-वर्ष गर्म देश है। यह विधान स्वास्थ्य के हेतु है। शरीर स्वस्थ रहने से मन भी स्वस्थ रहता है। स्वस्थ मन में ही सु-बुद्धि होती है। हिन्दुओं की पद्धति के अनुसार जल में त्रिकोण, चतुष्कोण या वृत्त लिखकर सूर्य-मण्डल से अंकुश-मुद्रा से तीर्थों का आवाहन करते हैं। तत्पश्चात् जल में स्व-इष्ट-देवता का आवाहन-पूजन करके तब स्नान करते हैं। इन सबका आध्यात्मिक रहस्य यह है—

त्रिकोण चित्-शक्ति का सृष्टि, स्थिति और संहार का त्रि-शक्त्यात्मक चिह्न है। इस त्रिकोण का नाम है 'योनि-मण्डल'। योनित्व चेतनत्व को कहते हैं। योनित्व का एक अर्थ कारणत्व भी है। योनि का बड़ा ही रहस्यात्मक अर्थ है, जो त्रि-कोण-रूपी संकेत को स्पष्ट करता है। त्रिकोण से एकाधिक भावों का बोध होता है। त्रिपुटी का भी व्यञ्जक त्रिकोण है। अस्तु, यहाँ एक ही मुख्य-भाव-द्योतक तात्पर्य्य

दिया जाता है। त्रिकोण की तीनों भुजाओं को त्रिगुण अर्थात् सत्व, रज और तमो-गुण-द्योतक कहते हैं। अतएव इसकी वाम-रेखा का वर्ण शुक्ल है, जिससे सत्व-गुण या ब्रह्मा का बोध है। दक्षिण-रेखा लाल है, जिससे रज गुण या विष्णु का बोध है। और अधो-भुजा मरकत-वर्ण है, जिससे तमोगुण या रुद्र का बोध है। इन तीनों भुजाओं से घिरे हुए अर्थात् त्रि-गुणावृत्त स्थान का नाम 'सुदर्शन' है। यह कोटि-सूर्य-प्रतीकाश और कोटि-चन्द्र-सुशीतल है। यही 'परा-शक्ति' का स्थान है, जिसका चिह्न 'विन्दु' है, जिससे गुणातीता 'परा-शिव' रूपिणी चित् परा-शक्ति का त्रि-गुणावृता होना बोध है। अतएव त्रिकोण लिखकर उसमें देवता के आवाहन का तात्पर्य्य तत्व-ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

'सूर्य्य-मण्डल'—सूर्य्य का तान्त्रिक नाम 'मार्त्तण्ड-भैरव' भी है। इसकी शक्ति 'प्रकाश' है। यह मार्त्तण्ड-भैरव सूक्ष्म-रूप से महा-काल-भैरव है। दोनों के गुण-समन्वय से यही सिद्ध होता है। महा-काल से प्रजा की सृष्टि, पालन और संहार—ये तीन काम होते हैं। यही तीनों गुण मार्त्तण्ड - भैरव के भी हैं। मार्त्तण्ड-भैरव वा सूर्य्य का एक नाम सविता अर्थात् सृजन करनेवाला है। यही पालन-कर्त्ता है। यही संहार-कर्त्ता है, जब यह रुद्र कहा जाता है। रौद्र या घाम इसके गुण उष्णता को कहते हैं। यही चिदाकाश-स्थित चित्-सूर्य्य है। इसी का हिरण्मय-परकोश में विरज निष्कल ब्रह्म है। यह हिरण्य-कोश आवरण है, जिसमें प्रकाश-शक्ति या चिद् - शक्ति रहती है। संक्षेप में इतना ही कहना पर्य्याप्त है कि विन्दु-रूपी सूर्य्य से, जो घनीभूता शक्ति है, अंकुश-मुद्रा द्वारा अपनी चित्त-वृत्ति को स्थिर करके तीर्थावाहन करते हैं अर्थात् सूर्य्य या विन्दु की सप्त-रश्मियों द्वारा अनवरत प्रवाहित शक्ति-धारा का आवाहन करते हैं। इस प्रकार के आवाहन से जल में शुद्धत्व या शिवत्व का भाव होता है। तभी हम अपने मूलाधार-स्थित शक्ति-पुञ्ज से हृदय-स्थित इष्ट के रूप में शक्ति को लेकर सहस्रार-स्थित पर-शिव से संयुक्त कर उस शक्त्यंश को निःश्वास द्वारा कर-कच्छप मुद्रा से बाहर लाकर जल में स्थापन करते हैं। इस सूक्ष्म प्रक्रिया में पर-शिव और जीव के ऐक्य-भाव का कितना समावेश है, यह तनिक विचार से ज्ञात हो सकता है। संक्षेप में यह कहना यथेष्ट है कि अमृताम्बुज स्वेष्ट की इस रूप में भावना करके उसकी गोद में—उसकी आनन्द-प्रवाह-धारा में निमज्जन कर सत्-चित्-आनन्द की धारा में अपने को डुबोकर बहा देना ही स्नान है।

[६] सन्ध्या-वन्दन

स्नान के पश्चात् सन्ध्योपासना है, जो अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार किञ्चित् भिन्न प्रकार की होती है। साधारण-तया यह तीन बार प्रातः, मध्याह्न और सायं-काल की जाती है। तुरीया या चतुर्थ सन्ध्या तो, जो महा-निशा में की जाती है, विरले बड़-भागी ही करते हैं। सन्ध्योपासना दो प्रकार की है—वैदिकी और तान्त्रिकी। वैदिकी कर लेने पर ही तान्त्रिकी सन्ध्या की जाती है। सन्ध्योपासना न करने से ब्राह्मण ब्राह्मणत्व से च्युत हो जाता है और वह किसी कर्म का अधिकारी नहीं रहता।

सन्ध्या के तीन मुख्य अङ्ग हैं—१ अघमर्षण, २ प्रार्थना (सूर्योपस्थान) और ३ गायत्री-जप। इनका वास्तविक रहस्य समझकर करने से ही लाभ होता है। अघमर्षण का अर्थ है—'अघ' अर्थात् पाप और 'मर्षण' अर्थात् हटाना। अपने से कायिक, वाचिक और मानसिक जो पाप ज्ञात या अज्ञात भाव से होते हैं, सूक्ष्म भाव से मनन द्वारा और स्थूल-भाव से पश्चात्ताप-द्वारा अघमर्षण-विधि का प्रयोग करके उनका नाश करना और इस प्रकार मन को निर्मल करना है। मनन से तात्पर्य है कि 'मैं पर-शिव' हूँ। मैं कर्त्ता नहीं हूँ और न करानेवाला हूँ और न मेरा कार्य है। कर्म में प्रवृत्त होते हुए भी मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, न

मुझमें कर्म लगते हैं और न मुझे कर्म-फल का लाभ मिलता है' इत्यादि। पश्चात्ताप से तात्पर्य्य है कि बुरे कर्म का अनुभव उसे फिर न होने देने का उपाय करना। सर्व-प्रथम स्वीकारोक्ति आवश्यक है अर्थात् अपने दुष्कृत को समझना। यह अन्तरात्मा या बाह्य-रूप में परमात्मा के समक्ष आत्मा करता है, न कि पुरोहित के सामने, जैसा कि 'रोमन कैथोलिक' ईसाई-सम्प्रदाय में नियम है।

पश्चात्ताप का अर्थ है पश्चात् या पीछे; ताप या दुःख अर्थात् बुरे कर्म (कुकर्म) करने पर दुःख करना। इससे संलग्न भाव है पुनरावृत्ति का निरोधात्मक दृढ़ सङ्कल्प। नीति की दृष्टि से यह विधि बड़े महत्त्व की है। प्रथम एक कुकर्म मनुष्य को पतित कर देता है, अगर उसकी पुनरावृत्ति न रोकी जाय। इस पुनरावृत्ति को रोकने का उपाय एकमात्र पश्चात्ताप ही है। यह भाव उसी को होगा, जिसकी यथार्थतः उस कुपथ पर जाने की इच्छा नहीं है। अतएव 'अघमर्षण' उसी के लिए उपयुक्त है।

प्रार्थना या उपस्थान—यह वैदिकी सन्ध्योपासन का एक अङ्ग है। यह प्रार्थना प्रत्यक्ष देवता सूर्य्य की है। इसी की अन्तः-प्रेरणा से जीव भला या बुरा कर्म करता है। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसी में सब कुछ—ब्रह्म तक समाहित है। बड़े-बड़े विद्वान् इसी काल-रथ पर आरूढ़ रहते हैं अर्थात् इसी की चिन्तना में रहते हैं।

तान्त्रिकी सन्ध्या में अर्घ्य-मात्र देने की विधि है। प्रथम अर्घ्य है मार्त्तण्ड और इसकी प्रकाश-शक्ति को। द्वितीय अर्घ्य है सूर्य-मण्डलस्था काली को अर्थात् हिरण्मय-कोश-स्थिता निष्कला परा-शक्ति को। तीसरे अर्घ्य में सन्ध्या-भेद के अनुसार प्रातः, मध्याह्न और सायं आदित्य-मण्डल के मध्य में रहने-वाली परा-शक्ति को अर्थात् सृष्टि, स्थिति और संहार-शक्ति-स्थिता परा-शक्ति आद्या को। जो तात्पर्य उपस्थान से सिद्ध होता है, वही तान्त्रिकी या सूक्ष्म-भाव के अर्घ्य-दान से भी होता है।

तत्पश्चात् गायत्री का जप है। गायत्री का अर्थ है, जिसके गायन अर्थात् मनन से त्राण हो, वही गायत्री है। इसको वेद-माता कहते हैं। वेद-माता से तात्पर्य है वेद का सार। वेद का एक अर्थ है वह ज्ञान, जिससे पर-ब्रह्म जाना जाय और दूसरा अर्थ है जानने योग्य वस्तु। इसका लक्ष्यार्थ है मूल-तत्व का ज्ञान या ऋतम्भरा प्रज्ञा। इसी की दीक्षा से मनुष्य द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य होते हैं। गायत्री वेद-शक्ति है। यह ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

गायत्री का जप करने के बाद दीक्षा-प्राप्त साधक को अपने मूल-मन्त्र का यथा-शक्ति जप करना चाहिये एवं सबसे अन्त में इष्ट-देवता के हाथ में आचमनी से जल चढ़ाकर जप तथा पूजा का समर्पण कर प्रणाम करना चाहिये। समर्पण की भावना की आवश्यकता के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। जप तथा पूजा का समर्पण करने के बाद स्तुति - पाठ द्वारा पुनः स्मरण करना चाहिये और उन्हें प्रणाम करना चाहिये।

इस प्रकार हिन्दुओं की पूजा में उपासक 'प्रातः-कृत्य' से अपने हृदय-क्षेत्र में 'शिवत्व' का बीज बोकर, 'दिवा-कृत्य' में स्नानादि से मन और शरीर को विशुद्ध कर और सन्ध्योपासना द्वारा निष्पाप होकर सांसारिक कर्मों में प्रवृत्त होता है। सांसारिक कर्म-क्षेत्र में 'पूजा' द्वारा प्राप्त तादात्म्य-भाव के सतत स्मरण के लिये, वह अपने को इष्ट-चिह्नों—भस्म, तिलक, विन्दु आदि से युक्त करता है। इस प्रकार प्रतिदिन अभ्यास द्वारा वह अपने व इष्ट-देव के मध्य तादात्म्य-भाव को सुदृढ़ करता है, जिससे उसे क्रमशः जीवन्मुक्तावस्था की प्राप्ति सहज ही हो जाती है।

नित्यार्चन

(स्थान-शुद्धि एवं देह-शुद्धि)

[हिन्दुओं की पूजा के पूर्वोक्त प्रातःकृत्य, दिवा-कृत्य के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पूजा' यज्ञ के समान है। इससे चिदादित्य का प्रकाश दिखाई देता है, जिससे 'पूजा' द्वारा परम-पद की प्राप्ति होती है। यह परम-पद एक उच्चतम विश्राम-स्थान है, जहाँ से फिर लौटना नहीं होता। इसको शब्दान्तर में मुक्ति-सौध कहते हैं।

हिन्दुओं की पूजा के अन्तर्गत इस सौध (मकान) की प्रथम सीढ़ी है—'दीक्षा'। 'दीक्षा' का अर्थ ही है कि—यह पाश-मुक्त कर शिव-सायुज्य देती है। दीक्षा के बिना कुछ नहीं होने का। 'गायत्री' मन्त्र की दीक्षा के द्वारा भौतिक जन्म का अध्यात्मीकरण होता है अर्थात् भौतिक कर्तव्यों के साथ ही आध्यात्मिक कर्तव्यों का भी बोध होता है। एक प्रकार से गायत्री-दीक्षा द्वारा व्यक्ति को आध्यात्मिक जन्म की प्राप्ति होती है। इस आध्यात्मिक जन्म के लिये पूर्वोक्त निर्दिष्ट कर्तव्यों का पालन करने पर हिन्दुओं की पूजा का लक्ष्य-मार्ग 'अभिषेक' द्वारा प्रशस्त होता है।

अभिषिक्त साधकों की पूजा-पद्धति 'नित्यार्चन' के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ क्रम से इसके विभिन्न अङ्गों का वर्णन किया जाता है।—सं०]

[१] पूजा-मन्दिर में प्रवेश हेतु द्वार-देवता की पूजा

[पूजा-मन्दिर पवित्र मन की ओर संकेत करता है, जो 'जीव' और 'पर-शिव' की एकता का ध्यान करने में समर्थ है। इस प्रकार उपासक का शरीर स्वयं 'पूजा' का स्थान है। भावनोपनिषद् के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस 'शरीर' की चार दिशायें—चार द्वार हैं। 'पूजा' करने से पहले इनके द्वार-पालों की पूजा आवश्यक है। अतः पहले से स्थापित सामान्यार्घ्य-पात्र के जल को पूजा-गृह के द्वार पर छिड़ककर इनकी पूजा की जाती है।—सं०]

मोक्ष-द्वार के चार द्वार-पाल हैं—१ शम, २ विचार, ३ सन्तोष और ४ साधु-सङ्गम। इनकी पूजा आवश्यक है। चारों की न हो सके, तो तीन की और तीन की भी न हो सके, तो दो की पूजा अवश्य करे। यही मोक्ष-रूपी घर के दरवाजे को खोलते हैं। तात्पर्य यह है कि शम, विचार, सन्तोष और सत्सङ्ग के बिना मुमुक्षु अर्थात् मोक्ष के इच्छुक ही न होंगे, तो मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधना ही क्योंकर होगी?

'शम' कहते हैं निग्रह अर्थात् वश करने को। मन के वश में होने से इन्द्रियों का निग्रह आप-से-आप हो जाता है क्योंकि मन ही इन्द्रियों का राजा है, परन्तु इतना तो अवश्य है कि इन्द्रिय और मन का निग्रह एक दूसरे पर आश्रित है। तथापि मन का ही निग्रह वास्तविक निग्रह है। यह केवल अभ्यास और वैराग्य से होता है।

'शम' या निग्रह के बिना साधक योगारूढ़ हो ही नहीं सकता क्योंकि योगारूढ़ होने का उपाय 'शम' ही है।

दूसरा द्वारपाल है 'विचार' अर्थात् तत्व-विचार। इसके द्वारा वैराग्य आ ही जाता है। सत् और असत् का ही विचार तो सच्चा विचार है। 'विचार' का शब्दार्थ ही है विशेष रूप से मनन। बुद्धि-संयोग के बिना 'विचार' नहीं हो सकता। विचार से ही संसिद्धि होती है।

तीसरा द्वारपाल है 'सन्तोष', जिसका अर्थ है पूर्ण प्रकार से तृप्ति। भाव यह है कि मन में आई हुई सब कामनाओं का त्याग कर या अपने ही में अपने से सन्तुष्ट होने का भाव रहना ही 'सन्तोष' है। सन्तोष की प्राप्ति हो जाने से बाकी क्या रह जाता है? कहावत है—

गो-धन गज-धन बाजि-धन, और रतन-धन-खान । जब आवै सन्तोष-धन, सब धन धूरि-समान ।।

और—चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बे-परवाह । जिसको कछु न चाहिये, सोई शाहंशाह ।।

चौथा द्वारपाल है साधु-सङ्ग या 'सत्सङ्ग' । साधु वही है, जो अनन्य होकर भजन करता है। अनन्य को दूसरे का भान नहीं होता । दूसरे का तात्पर्य है 'अहं' से । 'तत्' से पृथक् कुछ है ही नहीं, तब दूसरा आया कहाँ से ? दूसरा अर्थात् 'अहं' आता है अविद्या से । इसी अहं - भाव या अहंकार को हटाने से व्यक्ति साधु कहलाता है । साधु का सङ्ग है 'सत्सङ्ग', जिससे मोक्ष-गृह में साधक पहुँचता है। सङ्ग में दोष ही दोष है, किन्तु इस नियम में भी यही एक अपवाद है । गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

जो नहाइ चह एहि सर भाई । सो सत्सङ्ग करउ मन लाई ।।

यदि आत्म-ज्ञान-रूपी सरोवर में निमज्जन करना चाहते हो, तो मन लगाकर 'सत्सङ्ग' करो। यह हुई स्थूल व्याख्या । सूक्ष्म भाव यह है कि 'सत्' ही ऐसी वस्तु एक है, जो 'पर-शिव' है । उसका 'सङ्ग' अर्थात् सर्वदा गुरु, मन्त्र वा इष्ट - रूप में मनन करना है । तीनों एक ही हैं, अतएव किसी एक रूप के मनन से काम चल जाता है । 'सत्सङ्ग' के शब्दान्तर साधु - सङ्ग के अर्थ में मनन से तात्पर्य है, सभी साधुओं से बड़े साधु अर्थात् गुरु का मनन करना ।

काली-कुल में आठ द्वार-देवता हैं—१ गणेश, २ क्षेत्रपाल, ३ वटुक, ४ योगिनी, ५ गङ्गा, ६ यमुना, ७ लक्ष्मी और ८ वाणी । अन्य मत से १ गणेश, २ क्षेत्रपाल, ३ बटुक और ४ योगिनी–चार ही द्वार-देवता माने गए हैं। श्री-कुल में तीन ही द्वार - देवता हैं—१ भद्रकाली, २ भैरव और ३ लम्बोदर ।

'शम' का समन्वय वटुक-भैरव से हो सकता है और 'सन्तोष' का समन्वय लम्बोदर या गणेश से होता है । 'विचार' का योगिनी से, जो आध्यात्मिक अनुसन्धान-वृत्ति की द्योतक है, और 'साधु-सङ्ग' का क्षेत्रपाल से समन्वय है ।

[२] विघ्नोत्सारण

[द्वार-देवता की पूजा के बाद अभिषिक्त साधक 'विघ्नोत्सारण' करते हैं । इससे केवल बाहरी बाधाओं को दूर करने का ही अर्थ नहीं होता ।—सं०]

शुभ कार्यों में बहुत सी बाधायें होती हैं । मृत्यु का तो हर समय डर रहता है । ये बाधायें दो प्रकार की हैं–१ बाहरी और २ भीतरी । इनमें भीतरी ही मुख्य हैं क्योंकि भीतरी बाधा पर विजय पा जाने से बाहरी बाधा पर विजय पाना सहज हो जाता है । परा-पूजा में, जो ज्ञान-यज्ञ है, द्वैत-भावना ही सबसे बड़ा विघ्न है । इस द्वैत-भावना को पूज्य और पूजक या ज्ञातृ और ज्ञेय में अभेद-भाव से हटाया जाता है, तभी परा-पूजा हो पाती है ।

[३] 'याग-मण्डप'-प्रवेश

[द्वार-देवता की पूजा एवं विघ्नोत्सारण की क्रिया के बाद अभिषिक्त साधक मौन होकर पूजा-गृह में प्रवेश करता है । यहाँ विस्तार से इसके सम्बन्ध में भावना-मय प्रकाश डाला गया है ।—सं०]

'तदनन्तर मौन होकर याग-मंदिर में आये ।' यहाँ तदनन्तर का मतलब है उसके बाद । तब स्वतः प्रश्न होता है कि किसके बाद ? इसका उत्तर है कि आदि से जैसी प्रक्रिया कही गई है, उसके अनुसार करे । सबसे पहले सम्बन्ध-स्थापन आवश्यक है । फिर गुरु की आवश्यकता अर्थात् गुरु से दीक्षा ग्रहण कर उपदेशानुसार प्रातः-कृत्य से सन्ध्योपासन तक की क्रियायें करके अपने को परा-पूजा का अधि-

कारी बनाना है। तब 'मौन' होकर अर्थात् वाचिक, कायिक और मानसिक संयम करके अन्य शारीरिक क्रियायें करें। 'मौन' का तात्पर्य है आत्म-निग्रह से।

अब 'याग-मण्डप' किसको कहते हैं, यह प्रश्न है। यज्ञ दो प्रकार के होते हैं—१ क्रिया-यज्ञ और २ ज्ञान-यज्ञ। 'क्रिया-यज्ञ' के करनेवाले माया-युक्त होते हैं। 'ज्ञान-यज्ञ' क्रिया और द्रव्य-युक्त यज्ञों से कहीं श्रेष्ठ है, उसे करनेवाले अद्वैत-ज्ञानी लोग ही होते हैं।

अद्वैत-ज्ञानी के यज्ञ का यजमान है 'आत्मा', अर्द्धाङ्गिनी है 'श्रद्धा', शरीर है 'मन्दिर', उरू है 'वेदी', शिखा है 'वेद', यूप है 'हृदय', आज्य 'काम' है, मन्यु 'पशु' है, अग्नि 'तप' है, वचन है 'होता', प्राण हैं 'उद्गाता', मन है 'पर-शिव' और 'शमयिता' ही दक्षिणा है इत्यादि।

यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त है कि ज्ञान-यज्ञ में शरीर ही 'याग-मन्दिर' है। इस देह-रूपी याग-मन्दिर में पश्चिम-द्वार से पूजा करने के लिए प्रवेश करे। दूसरे शब्दों में देवता या 'पर-शिव' को सामने अर्थात् पूर्व में रखकर ही 'याग-मन्दिर' अर्थात् अखण्डाकार वृत्ति में प्रवेश करे क्योंकि आधार या ज्ञानाधार के पश्चिम अर्थात् पूर्व में लिङ्ग-रूपी दरवाजा है। इस लिङ्ग का समन्वय मूलाधार-स्थित स्वयम्भू-लिङ्ग से है, जो सार्ध-त्रिवलयाकार कुण्डली से आच्छादित है। इसी कुण्डली को प्रातः-कृत्य में जगाकर लिङ्ग-द्वार को खोल तेजो-रशि का स्फुरण किया जाता है और ज्ञान-योगी इसी अविद्या-रूपी किवाड़ को खोलकर अखण्डाकार-वृत्ति में प्रवेश करता है अर्थात् साधक को इसी क्रिया से 'तत् त्वमसि' महा-वाक्य का ज्ञान होता है।

[४] सङ्कल्प अर्थात् पूजा करने का सङ्कल्प

प्रातः-कृत्य में 'पूजा' के 'सङ्कल्प' की आवश्यकता नहीं कही गई है, केवल 'अजपा'-जप के समर्पण का सङ्कल्प किया जाता है। 'सङ्कल्प' एक बन्धन है। बन्धन होने पर भी ज्ञान-यज्ञ अथवा परा-पूजा में यह क्यों विहित है, इसकी विवेचना आवश्यक है। 'सङ्कल्प' में देश-काल का उल्लेख होता है। 'सङ्कल्प' दो प्रकार के होते हैं—१ शुद्ध, २ अशुद्ध। शुद्ध 'संकल्प' निष्काम होता है। संकल्प करने का उद्देश्य ही यह है कि निष्काम-संकल्प के द्वारा संकल्पात्मक बन्धन का खण्डन हो। फल की आकांक्षा न करने से 'संकल्प' शुद्ध हो जाता है। नैमित्तिक पूजा कामना से ही की जाती है। नित्य-अर्चा में मान-सिक संकल्प रहता है। परा-पूजा में नैमित्तिक का समावेश नहीं होता है।

[५] आसन-शोधन

[अभिषिक्त साधक का आसन पर बैठना निस्सीम ज्ञान में अनन्त चित्-शक्ति का अनुसरण सूचित करता है। आसन-शोधन की क्रिया से इसी भाव की पुष्टि होती है।—सं०]

भूमि का शोधन करके ही उस पर आसन रखना चाहिए। वचन, कर्म और मन-रूपी आधार-भूमि का शोधन किया जाता है। भूमि-शोधन का मन्त्र है—

"ॐ पवित्र-वज्र-भूमे हुं फट् स्वाहा।"

इस मन्त्र का अर्थ है—'ॐ' अर्थात् ब्रह्म, 'पवित्र' अर्थात् ब्रह्म क्योंकि पवित्र अथवा शुद्ध एक-मात्र ब्रह्म ही है, श्रुतियों में 'वज्र' ब्रह्म का ही नाम कहा गया है, 'भूमि' या 'भूः' भी ब्रह्म का ही नाम है, 'हुं' कवच-बीज है, जो व्यापकता का द्योतक है अर्थात् ब्रह्म है, 'फट्' अस्त्र-द्योतक है, जिससे अविद्या का नाश (अहं-भाव का त्याग) करते हैं, 'स्वाहा' समर्पण का द्योतक है। इस प्रकार पूरे मन्त्र का तात्पर्य है ब्रह्म में आत्म-समर्पण या तादात्म्य-भाव।

इसके बाद रक्त-चन्दन से त्रिकोण लिखना है। यहाँ पराग्र त्रिकोण है क्योंकि यह 'पर' की ओर चित्त-वृत्ति को ले जाता है। इस त्रिकोण पर आधार-शक्ति कमलासन की पूजा होती है। इससे मतलब है मूलाधार-शक्ति कुण्डलिनी का, जिसे षट्-दल-कमल अर्थात्——१ मूलाधार, २ स्वाधिष्ठान, ३ मणिपुर, ४ अनाहत, ५ विशुद्धि और ६ आज्ञा-चक्रों का भेदन करते हुए सहस्र - दल में ले जाकर पर-शिव से मिलाना है।

उक्त छहों चक्र क्रमशः——१ पृथ्वी, २ जल, ३ अग्नि, ४ वायु, ५ आकाश और ६ मनस् तत्व हैं। इड़ा और पिङ्गला, जिन्हें सूर्य और चन्द्र कहते हैं, वस्तुतः बुद्धि और अहंकार हैं। इन्हीं आठों से प्रकृति बनी है। इन्हीं का आसन बनाकर इनके परे की तादात्म्य-भावना करनी है। इसी को 'परिणामावलोकन-स्थिति' उपनिषदों में कहा गया है। योगासन, वीरासन, शरासन से भी यही उद्देश्य सिद्ध होता है। योगासन का अर्थ ही है 'तत् त्वम्' के योग की स्थिति। वीरासन का भी अर्थ है वीर की स्थिति। 'वीर' तो मुख्यतया पर-शिव या ब्रह्म ही है। वीर-स्थिति आनन्द की स्थिति है, जिसका दूसरा नाम शरासन है।

[६] आचमन अर्थात् तत्त्वाचमन एवं मन्त्राचमन

['आचमन' हिन्दुओं की पूजा की एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक क्रिया है। इसमें ज्ञान-जल से तीनों मल——आणव, मायिक और कार्मण अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीर के शोधन की अत्यन्त प्रभाव-पूर्ण भावना की जाती है। तीन प्रकार के मलों एवं शरीरों का वर्णन पहले हो चुका है।-सं०]

'आचमन' से तात्पर्य है आत्म-तत्व, विद्या-तत्व और शिव-तत्व–इन तीन तत्वों से बोधित शरीर के आणविक, मायिक और कार्मण-मल का शोधन। ये तीनों मल क्रमशः तीनों शरीरों अर्थात्–१ स्थूल शरीर, २ सूक्ष्म शरीर और ३ कारण शरीर के हैं। इनके अभिमानी क्रमशः विश्व, तैजस और प्राज्ञ हैं। ये तीनों तत्व कर्त्ता, कारण और कार्य के बोधक हैं। पीछे के पृष्ठों में इनके सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गई है। 'आचमन' के द्वारा इन्हीं तीनों भावों के ज्ञान का विशोधन होता है।

'आचमन' दो प्रकार के होते हैं–१ तत्वाचमन और २ मन्त्राचमन। जिस प्रकार तत्वाचमन का तात्पर्य 'तत्व-ज्ञान' से है, उसी प्रकार मन्त्राचमन 'मन्त्र-ज्ञान' का बोधक है। एक तीसरे प्रकार का भी विशिष्ट आचमन होता है। यह है नित्याऽऽचमन। नित्याऽऽचमन से दश इन्द्रिय और पञ्च-प्राणों से तात्पर्य है।

जैसे 'प्राणायाम' पूजा में कई बार आवश्यक है, वैसे ही 'आचमन' प्राणायाम आदि के पूर्व आवश्यक है। पूजा में यदि कभी ध्यान इधर-उधर गया, तो चित्त-वृत्ति को पुनः अखण्डाकार - वृत्ति में लाने के लिए 'आचमन' किया जाता है। इसकी पूर्णता 'प्राणायाम' से होती है। अर्थात् 'अहन्ता' और 'इदन्ता' भाव को आचमन-द्वारा सम्वरण करके ही प्राणायाम-द्वारा सोहं-भाव का दृढ़ीकरण होता है।

[७] शिखा-बन्धन

जैसे सैनिक अस्त्र-शस्त्र बाँधकर तैयार हो संग्राम के लिए यात्रा करता है, वैसे ही हिन्दुओं की पूजा में अपने-अपने क्रम के अनुसार तैयार होकर आत्मान्वेषण-रूप 'परा-पूजा' के लिए प्रस्तुत होते हैं। 'शिखा-बन्धन' इस तैयारी का प्रतीक है। 'शिखा-बन्धन' से चित्त-वृत्ति का दृढ़ीकरण होता है। 'पराऽ-परा पूजा' में यह अत्यन्त आवश्यक है। 'परा-पूजा' या ज्ञान-यज्ञ में इसकी आवश्यकता इसलिए है कि उपासक को यह ध्यान रहे कि वह कर्म-काण्ड का जीव होते हुये भी परमात्मा से भिन्न नहीं है। पूजा की

आनन्दावस्था के आविर्भाव तक ही 'शिखा-बन्धन' विहित है। उसके बाद उपासक 'मुक्त-केश', जो ब्रह्म-भावावस्था का द्योतक है, रहता है अर्थात् माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है। वह साक्षात् शिव-स्वरूप बन जाता है। 'शिखा' बाँधने का रक्षा-मन्त्र इस प्रकार है—

'ॐ मणिधरि वज्रिणि महा-प्रतिसरे रक्ष रक्ष हुँ फट् स्वाहा।'

रक्षा किससे ? अविद्या से रक्षा। 'नम.' मन्त्र से भी शिखा बाँधी जाती है। 'नमः' का शब्दार्थ जीव-भाव का द्योतक है और सूक्ष्मार्थ है 'न' अर्थात् 'मैं नहीं हूँ', 'मः' अर्थात् 'जीव'। तात्पर्य कि मैं जीव नहीं, शिव हूँ। इसकी मुद्रा अंकुश-मुद्रा है। इससे अविद्या या जीव-भाव के नियन्त्रण से तात्पर्य है।

[८] दिग्-बन्धन

देह के दश द्वार हैं और दिक् या दिशा भी दश हैं। दशो दिशाओं से तात्पर्य है—पञ्च-कर्मेन्द्रियों और पञ्च-ज्ञानेन्द्रियों से। इन्हीं के बन्धन से दश-दिग्-बन्धन का तात्पर्य है। इनके बन्धन से मन का, जो मोक्ष और बन्ध का मूल कारण है, बन्धन या निग्रह होता है। इससे नाम और रूप अर्थात् माया का अवरोध होता है। इसी प्रकार ब्रह्म-भाव का लाभ होता है।

[९] देह-रक्षा और देह-शुद्धि

[अभिषिक्त साधकों के नित्यार्चन में 'स्थान-शुद्धि' के बाद साधक देह-शुद्धि की प्रक्रिया में संलग्न होता है। इसके लिये देह-शुद्धि के मन्त्र द्वारा पहले प्रार्थना करते हैं कि 'हे इष्ट-देवता ! तू ही आत्मा है और तू ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहों में निगूढ़ वास्तविकता के रूप में प्रकाशमान होती है, मेरे जीव-भाव को दूर करके द्वैत भाव के अनुभव के भय से मेरी रक्षा करो।' इसके बाद गुरु, गणेश और इष्ट-देवता को नमस्कार करते हुये प्राणायाम, भूत-शुद्धि, प्राण-प्रतिष्ठा तथा न्यास आदि क्रियाओं द्वारा शरीर को भली भाँति शुद्ध कर देव-भाव से अभिभूत होते हैं।—सं०]

देह देवता का घर है। देवता इसमें वास करता है। अतएव इसकी रक्षा करनी है। यही ज्ञान कि 'पर-शिव' मुझमें है अर्थात् मैं 'शिव' हूँ या 'शिव' से भिन्न नहीं हूँ, देह-रक्षा है। इसका यह भी मतलब है कि देह-रूपी घर इस प्रकार परिष्कृत रहे कि नित्य-शुद्ध देवता उसमें रह सके। ऐसा न हो कि घर गन्दा हो जाय, जिससे देवता न रहे। देह-रूपी घर दूषित होता है अविद्या के 'अहं-भाव' से, जिसके आने से दूसरे सहकारी काम, क्रोधादि आ जाते हैं। अतएव इसी 'अहं-भाव' से रक्षा करनी है। इसी के लिये महा-मेधा-रूपी इष्ट से साधक प्रार्थना करता है और अपने को वह्नि-प्राकार अर्थात् अग्नि-ज्वाला से वेष्टित भावना करता है। इसी पारमेश्वरी तनु (शरीर) का प्राकार (दीवार) अग्नि-ज्वाला है। यह परम शुभ स्फुट प्रकाश है। इसी से विषय-वासना का विनाश होता है।

देह को इष्ट-देवता का घर समझना ही वास्तविक देह-शुद्धि है। जिस स्थान में सच्चिदानन्द ब्रह्म रहे, वह स्थान अशुद्ध हो नहीं सकता। अशुद्धि के रहने से ही स्थान अशुद्ध होता है, न कि विशुद्ध सत्-चित् और आनन्द के रहने से। ज्ञान-योगी ही ऐसा समझ पाता है, दूसरा नहीं।

देह-शुद्धि का एक मन्त्र—'ऐं ह्नः अस्त्राय फट्'।

'ऐं' वाग्-वीज अर्थात् ज्ञान-वीज है और 'ह्नः' है अस्त्र-वीज। मतलब कि ज्ञान-रूपी अस्त्र व 'फट्' से प्रहार करते हैं। किस पर ? अविद्या पर अर्थात् उसे दूर करते हैं। अविद्या के कारण ही हम शरीर के जीव को शिव से भिन्न मानते हैं, इस प्रकार के ज्ञान से ही देह-शुद्धि होती है, न कि स्नानादिक बाह्य-क्रिया से। बाह्य क्रिया कुछ अंश में सहायता मात्र देती है।

[१०] गुर्वादि प्रणाम

पूजा-पद्धति का निर्देश है कि सबसे पहले गुरु को, तब गणेश को, फिर मध्य में इष्ट-देवता को प्रणाम करे। जब गुरु और देवता एक ही हैं, तो गुरु को पहले प्रणाम करने का नियम क्यों है? इस सम्बन्ध में पहले प्रातः-कृत्य में प्रकाश डाला जा चुका है, पुनः सूचनीय है कि पहले और बाद का नियम अधिकारी-भेद पर निर्भर करता है। गुरु ही ध्यान, मन्त्र, मत और आचार आदि का मूल है। इसलिये गुरु को पहले प्रणाम करना चाहिये। एक बात यह भी है कि गुरु आदि या मूल - शक्ति का द्योतक है। ज्ञान या विमर्श-शक्ति के बिना चित्-शक्ति की उपलब्धि नहीं हो सकती है। गुरु के बाद अपने दाहिने भाग में गणेश या विनायक को प्रणाम करने का नियम है।

गणेश स्थूल-रूप से विघ्नेश हैं अर्थात् विघ्न-बाधाओं को हटानेवाले हैं। अतएव विघ्न को दूर करने के लिए उनका नमन आवश्यक है। ज्ञान-यज्ञ में गणेश को केवल विघ्नेश ही न समझकर विनायक अर्थात् ब्रह्म जानकर उनके प्रति नमन अर्थात् तादात्म्य-भाव का सूचक आत्म-समर्पण करते हैं। गणेश के मन्त्र या विद्या से अविद्या-रूपी विघ्न हटाया जाता है। इस प्रकार साधक विमर्श और विद्या-शक्ति में सम्वेश कर ब्रह्म-रूपिणी इष्ट-देवता को हृदयङ्गम कर स्थिर हो जाता है।

[११] प्राणायाम

प्राणायाम का शब्दार्थ है प्राण-वायु का नियन्त्रण। प्राणायाम वर्णात्मक होता है। अतः प्रणव (मन्त्र) ही प्राणायाम है। प्राणायाम दो प्रकार से किया जाता है—१ सगर्भ और २ निगर्भ। 'सगर्भ' प्राणायाम मातृका - संख्या से होता है। प्राणायाम हठ-योग की मुख्य क्रिया है। इसकी कम या अधिक आवश्यकता प्रत्येक प्रकार के योग में होती है।

प्राणायाम की क्रिया के तीन भाग हैं—१ पूरक, २ कुम्भक और ३ रेचक। 'पूरक' में बाहर की वायु श्वास-द्वारा फेफड़े में भरी जाती है। 'कुम्भक' में उस वायु को फेफड़े में रोकते हैं और 'रेचक' में निःश्वास द्वारा उस वायु को बाहर निकालते हैं। ज्ञान-योग में 'पूरक' से शास्त्र-विज्ञान का, 'कुम्भक' से आत्म-ज्ञान का और 'रेचक' से सब विषय में ब्रह्म-ज्ञान का तात्पर्य है। 'प्राणायाम' की इन तीनों क्रियाओं की 'मात्रा' अर्थात् 'समय की अवधि' निश्चित की गई है। इस मात्रा से कम या अधिक समय तक प्राणायाम करने से शरीर की हानि होती है। प्रारम्भिक अवस्था में 'पूरक' का समय १ मात्रा, 'कुम्भक' की ४ मात्रा और 'रेचक' की २ मात्रा शास्त्रों में निर्धारित है।

'पूरक' इड़ा नाड़ी अर्थात् चन्द्र (बाँएँ) श्वास से और 'रेचक' पिङ्गला अर्थात् सूर्य (दाहने) श्वास से होता है। इस प्रकार तीन, पाँच या सात बार करना होता है। 'प्राणायाम' एक व्यावहारिक विज्ञान है अर्थात् क्रियात्मक है। इसकी क्रिया देखकर सीखी जाती है। साधक की योग्यता के अनुसार ही इसमें मात्रा की वृद्धि की जाती है। आरम्भ में जैसे एकाक्षर-वीज का जप होता है, वैसे ही एकाक्षर-मूल-मन्त्र से ही प्राणायाम किया जाता है। इससे चित्त एकाग्र होता है।

'प्राणायाम' के बिना ज्ञान का पूरा फल नहीं मिलता। केवल प्राणायाम की साधना से भी इष्ट-सिद्धि होती है, परन्तु इसे अनुभवी गुरु की देख-रेख में ही करना चाहिये, नहीं तो अनिष्ट हो सकता है।

'प्राणायाम' की एक विधि है वायु-द्वारा मन का निरोध, दूसरी है मनोनिरोध - द्वारा वायु का निरोध। बात एक ही है। अपनी - अपनी रुचि और योग्यतानुसार करना होता है, मगर करना आवश्यक है।

[१२] ऋष्यादि-न्यास

'ऋष्यादि-न्यास' में ऋषि, छन्द, देवता, वीज, शक्ति और कीलक का न्यास क्रमशः शिर, मुख, हृदय, गुह्य, पाद और सर्वाङ्ग में किया जाता है।

'न्यास' का भावार्थ यह है कि सभी अङ्गों में देबता-भाव स्थापित कर अविद्या से अपनी रक्षा करे। 'न्यास' शब्द के दो अर्थ हैं—१ त्याग, जिसके अनुसार सम् + न्यासी = संन्यासी शब्द बना है। त्यागी को ही संन्यासी कहते हैं। २ स्थिति अर्थात् स्थापित करना।

परा-पूजा में 'न्यास' के उक्त दोनों अर्थ लिये जाते हैं। अहं-भाव के त्याग के बाद मन्त्रार्थक या नामार्थक पदार्थ की स्थापना की जाती है किन्तु अपरा-पूजा में केवल 'स्थिति' के ही अर्थ में न्यास किया जाता है। अर्थात् रक्षा-हेतु अङ्गों में मन्त्र का 'न्यास' अर्थात् स्थापन होता है।

सिर पर 'ऋषि' अर्थात् मन्त्र के सर्व-प्रथम उपासक की स्थापना होती है। 'मुख' में 'छन्द' का न्यास होता है। मातृका-वर्णों की योजना छन्द से होती है और मातृका से ही सृष्टि होती है। यथा विन्दु से ध्वनि हुई, ध्वनि से मातृका-वर्ण हुये और मातृका से नाम, मन्त्र आदि बनते हैं। इसी प्रकार सारे जगत् की सृष्टि हुई। अतः 'छन्द' सावित्री-स्वरूप है और सविता है यज्ञ, अतएव जहाँ यज्ञ है, वहीं 'छन्द' है। दोनों मिथुन या युग्म हैं। दोनों के एक होने से ही फलोत्पत्ति होती है। जैसे यज्ञ के भिन्न-भिन्न रूप हैं, वैसे ही छन्दों के भिन्न-भिन्न रूप या तात्पर्य हैं।

हृदय में 'देवता' का न्यास होता है। अर्थात् जीव में इष्ट-देवता की स्थापना अर्थात् ऐक्य की भावना होती है। गुह्य स्थान में 'वीज' का न्यास किया जाता है। 'गुह्य' से तात्पर्य है गुप्त-स्थान या मूलाधार-चक्र। वहीं पर मन्त्र का स्थान है क्योंकि कुण्डलिनी ही सुप्त मन्त्रात्मिका शक्ति है। इसी कुण्डली के चैतन्य होने से मन्त्र-चैतन्य होता है।

पाद में 'शक्ति' का न्यास होता है। 'शक्ति' से तात्पर्य है देवता की शक्ति से। इस शक्ति को ऊर्ध्व-गामिनी करना ही साधक का लक्ष्य है। शरीर का सबसे नीचा अङ्ग पैर ही है। यहीं से शक्ति को ऊपर उठाते-उठाते शरीर के सबसे ऊँचे अङ्ग ब्रह्म-रन्ध्र तक ले जाकर एकीकरण होता है।

सर्वाङ्ग में 'कीलक' का न्यास किया जाता है। यह सबसे अन्त में होता है। इससे सर्वाङ्ग (सारे शरीर) में निष्कीलन का काम होता है अर्थात् अविद्या-रूपी कील को हटाकर ऐक्य-भाव स्थापित किया जाता है।

[१३] कर-न्यास

यह न्यास पाँचों अँगुलियों, कर-तल और कर-पृष्ठ—इन छः कराङ्गों पर किया जाता है। इसके लिये मूल-मन्त्र के वीज को छः दीर्घ स्वरों से युक्त करते हैं। यथा—क्रां क्रीं क्रूं क्रैं क्रौं क्रः। इसे कर-शुद्धि-न्यास भी कहते हैं क्योंकि इससे कर-शुद्धि होती है। इस न्यास से यह धारणा की जाती है कि 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ, न मेरा कार्य है। मैं केवल साक्षी हूँ।'

सम्पादक की वाणी

'चण्डी' पत्रिका के प्रवर्त्तक पूज्य शुक्ल जी ने सन् १६४२ में उसका सूत्रपात कर जीवन के अन्त (१६७१) तक अर्थात् ३० वर्षों तक उसका सम्पादन कर शाक्त-धर्म और तन्त्र-साहित्य के रहस्यों को उद्घाटित करने का महत् कार्य सम्पन्न किया। इसके साथ ही १६२२ से १६४७ तक 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक-रूप में आपने राष्ट्र-भाषा हिन्दी की अपूर्व सेवा की। यह सारा कार्य आपने अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व को गोपन रखते हुये किया; अर्थ और यश की सर्वथा उपेक्षा ही की। ऐसे महान् सम्पादक-शिरोमणि शुक्ल जी की जन्म-शताब्दी-वर्ष के उपलक्ष्य में श्रीजगदम्बा की कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि आपके अज्ञात व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालनेवाले अभूतपूर्व कार्य का श्रीगणेश अनायास ही एक लघु पत्रिका "सम्पादक की वाणी" द्वारा हो गया। जो बन्धु पूज्य शुक्ल जी के साहित्यिक एवं आध्यात्मिक क्रिया-कलापों से अवगत होना चाहें, वे उक्त लघु पत्रिका को मँगा सकते हैं। वार्षिक शुल्क निर्धन बन्धुओं के लिये ५) मात्र और सम्पन्न बन्धुओं के लिये ३०) है, जिसे धनादेश (म० आ०) द्वारा भेजना चाहिये।

सम्पादक के संस्मरण : मूल्य ५० रु०—'चण्डी' सदस्यों के लिये मूल्य ४० रु०

'कौल-कल्पतरु' एवं 'सम्पादक-शिरोमणि' स्व० पण्डित देवीदत्त शुक्ल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालनेवाला—अत्यन्त रोचक, ज्ञान-वर्द्धक, शिक्षा-प्रद तथा आदर्श जीवन का मार्ग-दर्शक अनूठा सजिल्द स्मृति-ग्रन्थ।

'गुरु-पूर्णिमा' पर प्रकाशित ३०४ पृष्ठों के इस ग्रन्थ में ८० निबन्ध संगृहीत हैं। लेखकों में एक ओर श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, डा० मुकुन्ददेव शर्मा, स्वामी शाश्वतानन्द सरस्वती, पं० कालीचरण पन्त आदि जैसे स्वनाम-धन्य दिवङ्गत साहित्यकार एवं साधक हैं, तो दूसरी ओर ठाकुर श्रीनाथ सिंह, पं० अमृतलाल नागर, पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी', श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, श्री कान्तिचन्द्र सोनरिक्सा, 'पद्म-भूषण' डा० रामकुमार वर्मा, डा० प्रभाकर माचवे, 'पद्मभूषण' पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, पं० रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' आदि जैसे आज के प्रख्यात साहित्यकार एवं विश्व-हिन्दू-सम्मेलन के राष्ट्रीय अध्यक्ष 'न्याय-मूर्ति' पं० शिवनाथ काटजू, 'कुल - शेखर' श्री महेशचन्द्र गर्ग, 'श्रीपीताम्बरा-पीठ' के मन्त्री पं० सूर्यदेव शर्मा जी जैसे धर्म-धुरीण विद्वानों के शुभ नाम हैं।

इस ग्रन्थ को पढ़ने मात्र से लोग गद्गद हो उठते हैं। कुछ सम्मतियाँ यहाँ उद्धृत हैं—

'...बड़ी सूझ-बूझ के साथ...१६२६-४८ तक के भारत की संस्कृति, राजनीति और हिन्दी के विकास पर नई पीढ़ी को देवता का प्रसाद बाँटकर उस काल-खण्ड के समझने की पूरी सामग्री सिल-सिलेवार दी है।...' —श्री रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी,' प्रयाग, १५-७-८७

'...यह ग्रन्थ पूज्य शुक्ल जी की स्मृति में ही अनोखा प्रकाशन नहीं है, हिन्दी-साहित्य के १६२० से १६४५ तक का ही इतिहास नहीं है, बल्कि हिन्दी-साहित्य तथा उसकी पत्रकारिता के लिए अनमोल देन है।...' —श्री परिपूर्णानन्द वर्मा, कानपुर, १६-८-८७

'...इसके अधिकांश निबन्ध बहुत ही मूल्यवान हैं। यह बहुत ही उपयोगी प्रकाशन है।...' —श्री पी० डी० टण्डन, प्रयाग, ५-८-८७

'...संपादक के संस्मरण' ग्रन्थ श्रद्धेय शुक्ल जी की स्मृति को अमर रखेगा, इसमें सन्देह नहीं। यह श्रम एवं व्यय-साध्य कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ है।...' —डा० गौरीशङ्कर गुप्त, काशी, १८-८-८७

पता : चण्डी-कार्यालय, अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग—६

पं० देवीदत्त शुक्ल जन्म-शताब्दी वर्ष के अन्तर्गत

१६ वीं पुण्य तिथि पर

श्रद्धाञ्जलियाँ

हिन्दुस्तानी अकादमी के कक्ष में २० मई, ८७ को सायं ५ बजे एक गोष्ठी में यशस्वी सम्पादकाचार्य शुक्ल जी को भाव-भीनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की गईं।

इस पुण्य-तिथि के आयोजन का संक्षिप्त विवरण आकाश-वाणी प्रयाग और दूर-दर्शन (लखनऊ) द्वारा भी प्रसारित किया गया। विविध पत्र-पत्रिकाओं ने इस अनूठे आयोजन को किस रूप में लिया, उसकी झाँकी 'सम्पादक की वाणी' नामक पत्रिका में द्रष्टव्य है।

अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करते हुये विश्व-हिन्दू-परिषद् के राष्ट्रीय अध्यक्ष एवं अवकाश-प्राप्त न्याय-मूर्ति शिवनाथ काटजू ने कहा कि 'तन्त्र-शास्त्र' को शुक्ल जी की देन का मूल्यांकन होना चाहिए।' इस सन्दर्भ में पूज्य काटजू के वक्तव्य का विवरण इस प्रकार है—

'सरस्वती' अपने समय की सर्वोच्च पत्रिका थी। इसके माध्यम से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के उत्तराधिकारी श्रीशुक्लजी ने हिन्दी-जगत् को एक नई दिशा दी। श्रीशुक्लजी का एक स्वरूप जो युवावस्था में गोपनीय था, वह जीवन के सन्ध्या-काल में प्रकटहुआ। तान्त्रिक योगेश्वर श्री शुक्लजी ने तान्त्रिक साधना के साथ-साथ तन्त्र-शास्त्र का भी भारत में प्रचार-प्रसार किया। उनके इस कार्य का मूल्यांकन आज भले न हो, पर डेढ़ सौ वर्ष बाद अवश्य होगा।...कलकत्ता उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सर जॉन वुडरफ के गुरु श्री शिवचन्द्र भट्टाचार्य ने स्वयं बँगला भाषा में तन्त्र - शास्त्र की व्याख्या की और उनके शिष्य ने आँर्थर एवेलाँन के नाम से अंग्रेजी में तन्त्र-विद्या पर पुस्तकें लिखकर इस विषय में जन-साधारण के मन में व्याप्त भ्रम को दूर करने का प्रयास किया। किन्तु बँगला और अंग्रेजी का माध्यम भारत के लोक-मानस तक नहीं पहुँच सका। यह महान् कार्य 'कौल-कल्पतरु' शुक्ल जी ने हिन्दी में 'चण्डी' पत्रिका का प्रवर्तन कर तथा इस विषय में हिन्दी में शताधिक पुस्तकों का प्रकाशन करके सम्पन्न किया। आज शाक्त, शक्ति एवं तन्त्र का बड़ा सीमित अर्थ लगाया जाता है, कुछ अधकचरे लोगों ने जादू-टोना आदि को बढ़ावा दिया है परन्तु अच्छे साधक इस चक्कर से बहुत दूर रहते हैं। शुक्ल जी द्वारा प्रवर्तित 'चण्डी' पत्रिका एवं उनके द्वारा प्रणीत साहित्य से शाक्त-साधना का वास्तविक स्वरूप राष्ट्र-भाषा हिन्दी के माध्यम से अब सारे देश को सुलभ हो चुका है, जो इस युग की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।...'

सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक : श्री ऋतशील शर्मा, परावाणी प्रेस, इलाहाबाद—२११००६